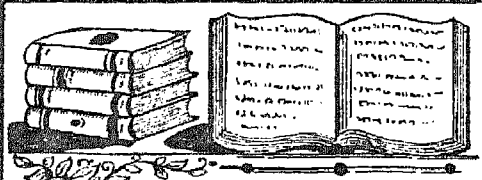

Municipal Library,

NAINI TAL.

Class No. 954.2 M

Book No. 965

वर्द्धमान साहित्य-मंदिर का चतुर्थ पुष्प

मौन-निमंत्रण

[१५ कलापूर्ण कहानियों का संग्रह]

लेखक
श्रीवैकुन्ठनाथ मेहरोत्रा, एम० ए०

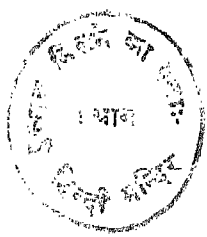

प्रथम बार
सन् १९४५] सं० २००१ वि० [मूल्य
१)

प्रकाशक—
दयाराम जैन,
अध्यक्ष—
वर्द्धमान साहित्य-मंदिर,
अमीनुद्दौला पार्क,
लखनऊ

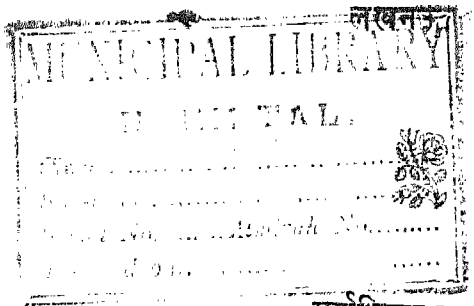

सर्वाधिकार स्वरक्षित

मुद्रक—
दयाराम जैन,
अध्यक्ष—
वर्द्धमान प्रेस,
अमीनुद्दौला-पार्क,
लखनऊ.

पूज्य पिता तथा स्नेहमयी माता

के

चरण कमलों में

जिन्होंने

मुझे साहित्य की ओर झुकाया

अपनी बात

यह मेरा पहला कहानी संग्रह है इस कारण, हिन्दी-जगत के सामने इसे पेश करते हुए मुझे हिचकिचाहट और संकोच हो रहा है। पाठक इसको अपनायेंगे या नहीं, समालोचकों का क्या रुख होगा इत्यादि भविष्य की बातें भी सामने हैं। पर मेरी सफलता या असफलता तो पाठकों की सहानुभूति या कटु आलोचना पर ही निर्भर है इस कारण हिन्दी-संसार के सामने आना बहुत आवश्यक है। और पाठकों की इन दो देनों में से कोई एक तो भारी हो हीगी।

कहानी लेखन कला का कोई निश्चित विधान (Technique) या नियम तो मैं भली प्रकार जानता नहीं और प्रस्तुत कहानियों में (Technicalities) की ओर कोई ध्यान भी नहीं दिया गया है। एक भावुक हृदय की अनुभूति और सहानुभूति यदि तीव्र और सच्ची (Sincere) है तो उसकी अभिव्यक्ति (Expression), चाहे जिस रूप में भी हो, सफल और बहुत कुछ नियमानुकूल ही होगी, ऐसा मेरा विचार है। हाँ, अभिव्यक्ति (Expression) का रूप और फिर उसमें तोल (Balance) का ध्यान रखना अवश्य आवश्यक है। पर प्रत्येक साहित्यिक रचना का प्राण तो लेखक के हृदय की सच्ची अनुभूति और सहानुभूति ही है। और इसी पर उसकी सफलता एवं असफलता निर्भर है।

इसके बाद, भाषा का प्रश्न सबसे अधिक महत्त्व का है।

रचना के क्षेत्र में उसका उतना ही महत्त्व है जितना जीव-धारियों में शरीर का। लेखक की अनुभूति तथा सहानुभूति को यदि प्राण-शक्ति मान लिया जाय तो भाषा ही उसका शरीर है। पूरी चीज़ की सुन्दरता या असुंदरता संयत (Balaned) और अनुकूल भाषा ही पर निर्भर है। इसके प्रयोग में, वस्तु (Thene) तथा कथानक (Plot) के समय और काल का ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। यदि समय-काल के अनुरूप भाषा का प्रयोग न करके, हर एक रचना एक ही ढाँचे में ढाली जाय तो वे रचनायें कदापि सुन्दर नहीं कही जा सकतीं। और जो कथानक (Plots) आजकल की रोज़मर्रा की घटनाओं से लिए जाते हैं उनमें रोज़मर्रा की बोल-चाल की भाषा का प्रयोग ही उपयुक्त तथा अनुकूल है।

अब कुछ शब्द उन सज्जनों के लिए कहना आवश्यक हैं जिन्होंने, किसी न किसी प्रकार, मुझे इस प्रयत्न में उत्साहित किया है। इस नाते मैं अपने प्रिय मित्र तथा स्नेही श्रीयुत् शिवसिंहजी "सरोज", श्रीयुत रमाशंकर राय, बी० ए०, एल-एल० बी०, श्रीयुत् ओ३म् प्रकाश जी टायल, एम० ए०, श्रीयुत् उमाशंकरजी पांडेय, बी० ए०, एल-एल०, बी० तथा अनुज श्री त्रिलोकीनाथजी मेहरोत्रा का बहुत आभारी हूँ।

इलाहाबाद
१, जनवरी, १९४५।

वैकुण्ठनाथ मेहरोत्रा

मौन-निमंत्रण

मास्टर

स्कूल से मास्टर आयेंगे। बीरू सुनकर ठिठका और उसे जैसे काठ मार गया। दरवाजे के एक कन्द पल्ले से सट गया और बुत बना सुनता रहा। माँ जोर जोर से बोल रही थीं—"तुम्हें तो जैसे कोई फिकर ही नहीं है। कितने दिनों से कहती आ रही हूँ कि एक मास्टर रख दो, जरा बीरू का ऊधम तो कम हो। सारे दिन गली के लड़कों में मारा-मारा फिरता है, न डांट फटकार का डर, और न मार का। ऐसे ही तो लड़के बिगड़ जाते हैं और एक तुम हो जो कान में तेल डाले पड़े हो। अरे एक रोक रहेगी तो राह पर आ जायेगा। कितना ढीठ खिलवाड़ी है। खाने-पीने की कुछ सुध-बुध ही नहीं है, और एक बज रहा है। कहीं खेल रहा होगा भंगी बना। और राजो छोटी है तो क्या, मास्टर के पास बैठते-बैठते बीरू सी शरीर तो न होगी।"

"अरे भाई, तुम तो बड़ी सख्त हो। बीरू तो था ही, अब राजो को भी बचपन में ही बूढ़ी बना दोगी। दोनों की उमर ही क्या है। अभी तो बेचारों को समझ भी न आई होगी, और तुम उन्हें खेलने कूदने भी नहीं देतीं। यही तो उमर है खेल-कूद की। और बीरू तो होशियार है। जभी पढ़ाना शुरू करेंगे, सीधा हो जायेगा। देखना कैसा तेज निकलेगा। अभी

से रोकथाम करने से कुन्द हो जायेगा और कुछ पढ़ने में मन भी न लगेगा।"

"तुम तो उसी की वकालत करते हो। बीतती है मेरे सिर, अगर मास्टर नहीं रखते हो तो तुम्ही उसे सम्हालो, मैं तो हार गयी।"

"अच्छा! गरम क्यों होती हो।"

बीरू दरार से झाँक रहा था। पिताजी कुछ विवश से उठकर बाहर जाने लगे और वह चोर की तरह चुपके-चुपके भीतर घुसा।

सारा दिन वह सोचता रहा। ठीक से भूख भी न लगी। अजीब-अजीब बातें सूझने लगीं। मास्टर से कभी पाला न पड़ा था। यह उसके जीवन में एक नयी चीज थी। सुनता था कि वे बड़े जल्लाद होते हैं। इतना काम देते हैं कि दिन भर खेलने का मौका ही नहीं मिलता। और ऊपर से मारते कितना हैं। सोचते, सोचते बीरू काँप उठा।...आज मानू के गालों पर उँगलियों के निशान पड़े थे। मास्टर ने मारा था।

अरे, कैसी चीज होती है यह। मन से खेलता भी नहीं है। और अब मैं भी कैद हो जाऊँगा। कैसे पढ़ना होता है, समझ में नहीं आता।...और फिर मुन्नू, कंकन और रज्जन दिन-भर खेलेंगे, और मैं मास्टर के मारे कुछ न कर सकूँगा। कल गुल्ली-डण्डा खेलना था। अगर कल ही मास्टर आ गया तो यह सब कैसे होगा। सारे खिलौने रक्खे-रक्खे टूट जायेंगे। फुटबाल फट जायेगा।....सोचते-सोचते वह सो गया।

शाम को भी वह ठीक से न खा सका।

❀ ❀ ❀

दूसरे दिन सचमुच मास्टर आ गये। पिताजी ने माताजी से कहा—"लो मास्टर आ गये, जो चाहो हिदायत कर दो" उन्होंने परदे की आड़ से कहा:—

"मास्टरजी वीरू बड़ा शैतान है, अगर काम न करे और पढ़ने से जी चुराबे तो खूब मारियेगा।"

उधर वीरू सिसक रहा था। उसने मास्टर को कहते सुना कि—बहूजी आप फिकर न कीजिये, सब ठीक हो जायेगा।

"अगर मास्टर न आते तो गुल्ली-डण्डा खेलता होता, यही सोचता हुआ वीरू बाहरवाले कमरे में आया। मास्टरबोले—

"अरे, रोते हो, आँसू पोंछो।"

उनकी आवाज में कड़क थी। वीरू का हाथ अपने आप आँसू पोंछने को उठ गया और वह मास्टर को देखता रह गया। लम्बी सी, सैकड़ों सिमटन पड़ी हुई कमीज और चपटा सा ऊँचा पैजामा पहिने थे। लम्बी-लम्बी सफेद और काली मिली हुई मूँछें थीं। चाँद के आगे के बाल उड़ गये थे, जो टोपी पीछे सरक जाने से खुल गये थे। एक पुरानी-सी ऐनक लगाये थे जो उनके थोड़ी झुर्रियाँ पड़े हुए चेहरे पर झूल-सी रही थी। बड़ी-बड़ी आँखें और कड़कती हुई आवाज और बगल में रक्खी थी एक पतली-सी बेंत!

कुछ डरा धमकाकर और कुछ काम की बातें करके मास्टर उठने लगे। वीरू भगा। कड़ककर उन्होंने कहा—"बड़े बेशहूर हो, नमस्ते नहीं करते" और वीरू के दोनों हाथ चुपचाप जुड़ गये। मुँह से आवाज नहीं निकली।

❀ ❀ ❀

शाम को थोड़ी देर को वीरू बाहर निकला। साथी खेल रहे थे। वह चुपचाप खड़ा होकर देखने लगा। एक ने

आवाज दी कि बीरू आओ। तभी वह फफक-फफककर रो उठा। कहना पड़ा कि मेरे मास्टर आने लगे हैं और वह वहाँ रुक न सका। मास्टर उसके दिमाग में भर गया था।

❀ ❀ ❀

धीरे-धीरे बीरू के सिर पर मास्टर का भूत सवार हो गया। हाथ तो चलता ही था, अब बेंत भी चलने लगी। बात-बात में हाथ और बेंत। बीरू सहमा रहता था। पिछले दिन पाटी धोने में जरा देर हो गई तो पूरे दो घंटे तक खड़ा रहना पड़ा। नन्ही टांगें दुखने लगीं तो वह बैठ गया। कहने पर भी नहीं उठा। फिर हाथ छूटा और उसके बाद बेंत। फिर खड़ा होना पड़ा, पर डर के मारे उसके मुँह से आवाज न निकली।

एक दिन मास्टर साहब पहाड़ा सुन रहे थे। दो चौके चार सुनकर चमक पड़े। कड़क कर पूछा; "दो चौके ?"

बीरू ने ठीक सोच लिया था, पर घबराहट में मुँह से निकल गया, "चार"। फिर क्या था। एक घंटे तक "दो चौके आठ" कहना पड़ा।

अगले दिन, बीरू ने दो का पहाड़ा याद किया, पर जब मास्टर ने आकर पूँछा कि, "दो चौके ?"

तब उसके मुँह से एकदम निकल पड़ा, "चार"। फिर तो हर बात पर पिटता रहा।

मास्टर साहब पढ़ाते और समझाते तो कम थे पर मारते थे खूब। जी भरके मारते ही थे। यहाँ तक लगता था जैसे इसी-लिये ही रक्खे गये हों। पिता का विचार ठीक था। बीरू सहम-सा गया। उसकी बाल-सुलभ चंचलता और नटखट-पन मर से गये। गुमसुम वह दिन-भर चुप ही रहता था। या तो पढ़ता,

या चुपचाप बैठा रहता । खेल-कूद और ऊधम से तो जैसे कोई नाता ही न रह गया । वह सीधा नहीं वरन् कुन्द होने लगा था । पर माताजी ने समझा कि लड़का सुधर गया है । इसी पर मास्टर की खूब तारीफ की और एक तरह से मारने पीटने में उनको और हौसला बढ़ाया । पिता कुछ-कुछ समझाते थे, पर मजबूर थे ।

❀ ❀ ❀

उस दिन पड़ोस में दावत थी । माताजी जाने को थीं इसलिये वीरू .खुश था कि मास्टर से तो पिंड छूटेगा । माँ के साथ जाने को तैयार हुआ । राजो भी जा रही थी । रज्जन और कंकन भी आने को थे । बड़ा खुश था । पर मास्टर ने आकर उसे रोक लिया । माँ ने सोचा अच्छा ही है ऊधम मचाता । वीरू रोया तो मास्टर ने एक बेंत लगा दी । सिसक कर रह गया । माँ के साथ राजो भी गयी । उस दिन वीरू बहुत पिटा और डर के साथ-साथ क्रोध और क्षोभ की भावना भी उसके हृदय में उठने लगी ।

दूसरे दिन .खूब पानी बरसा और माँ के मना करने पर भी वीरू पानी में खूब भीगा । उसने कहा, 'आने दो मास्टर को, बताऊँगी"

वीरू ने जैसे सुना ही नहीं । उसने सुना था—पानी में भीगने से सर्दी लगती है, और सर्दी लग जाने से बुखार आ जाता है । वह दिल से चाहता था कि उसे बुखार आ जाये जिससे मास्टर के चंगुल से कुछ दिन बचा रहे ।

मार-पीटकर माँ ने हटाया तो, पर शाम को वीरू को बड़े जोर का बुखार चढ़ा । मास्टर आये तो माँ ने शिकायत की कि कहना न मानकर पानी में वह .खूब खेला । और मास्टर ने धम-

काया कि कल आकर मैं दूना पाठ सुनूंगा और कहना न मानने की भी सजा दूँगा। वीरू को फिर डर लगा। पर वह .खुश था। बहुत .खुश

वीरू का बुखार बढ़ता गया। मास्टर रोज आते थे। पर पाठ की याद दिला के लौट जाना पड़ता था। पर वीरू को तो वह काल-स्वरूप लगते थे। आते थे तो उसका दम-सा घुटने लगता था।

एक दिन उसकी हालत खराब हो गयी, और कई घंटों बर्राता रहा। घर में घबराहट छा गई। रह-रहकर वीरू कहता ..."मास्टर साहब मुझे मारिये मत। मैं तो खूब पढ़ता हूँ, पर आपके आगे डर जाता हूँ....सब भूल जाता हूँ....मैं क्या करूँ...खेलता भी तो नहीं हूँ...पिताजी कहते हैं मेरे खेलने-कूदने के दिन हैं...और आप...माँ....खेलने ही नहीं देतीं....मेरे खिलौने पड़े-पड़े खराब हो रहे हैं....देखिये मैं उन्हें छूता भी नहीं....आप मारिये मत....मारिये मत.... पिताजी आप तो चाहते हैं....खेलने क्यों नहीं देते.....

पिताजी ने आँसू पोंछे और माताजी से कहा, "कहो तो एक मास्टर और रख दूँ।" वह रोती रही।

दूसरे दिन वीरू कुछ होश में था। पिताजी को देखते ही रो दिया। उन्होंने प्यार से कहा, "वीरू, तुम्हारे मास्टर निकाल दिये गये। अब कोई मास्टर न आवेगा।

वीरू चिल्ला उठा, "सच !! पिताजी...माताजी..." और माताजी बोलीं, हाँ बेटा....ले खिलौना खेलेगा। देख राजो रो रही है....उससे बोल दे।"

पता नहीं वीरू ने आखिरी बातें सुनी या नहीं।

जाग्रत-अतीत

इतिहासकारों का अनुमान था कि केहर गाँव के समीप भूगर्भ में सोता हुआ कोई राज-प्रासाद अवश्य मिलेगा, और इसीलिए वहाँ खुदाई की योजना हुई थी।

श्रमजीवी, संयोजक, विशेषज्ञ, इतिहासकार तथा और भी कई पदाधिकारी वहाँ आ-आकर बसने लगे। लम्बा काम था और पास में कोई बड़ा शहर भी नहीं था, जहाँ से रोज आ जा सकते। अगर होता भी तो क्या, आस-पास के घेरे में, कहीं दूर तक रेलवे लाइन का अस्तित्व ही न था। इस कारण बसना मजबूरी था। गाँव में और आस-पास खलबली-सी मच गयी। खेमों में खुदाई के संयोजक इत्यादि रहते थे और उसी के आस-पास श्रमजीवियों की कमजोर झोपड़ियाँ पड़ी थीं। गाँव की कुछ दूकानें उठकर उसी दायरे में आ गयी थीं और उनकी बिक्री चढ़ाव पर थी।

अनिल इतिहास का विद्यार्थी था। भारत के स्वर्णिम अतीत पर उसे गर्व था और उसी की खोज-धुन में वह लीन रहता था। बीता हुआ युग उसे अति आकर्षक तथा 'रोमाण्टिक' लगता था। उस अतीत की मधुर स्मृति उसे आन्दोलित कर देती थी, जब भारत पर भारत का राज्य था, जब अपनी मर्यादा तथा प्रतिज्ञा-पालन के लिए सहस्रों वीर, प्राणों का मोह छोड़, केसरिया जामे में सुसज्जित हो, रणचण्डी की भेंट चढ़ जाते थे, जब किंशुलयसी कोमल

ललनाएँ अपने पवित्र सतीत्व की रक्षा के लिए, हँसते-हँसते अग्नि में लीन हो जाती थीं। इन सब घटनाओं को देखने के लिए उसके हृदय में तीव्र उत्कण्ठा थी। देखने में तो वह पूर्णतया इसी युग का प्राणी था पर मन उसका सदा अतीत से ही उलझा रहता था।

और अनिल का ऐसे अवसर से लाभ उठाना स्वाभाविक ही था। उसको धन और मान की इतनी चिन्ता न थी जितनी अपना कौतुक शान्त करने की। प्राचीन इतिहास के किस काल की सभ्यता और विभूति कहाँ गड़ी होगी, यह उसने पूर्णतया जानने का प्रयत्न किया। भूमि का एक भाग उसके निरीक्षण में खुदने को था और उसके उत्साह और स्फूर्ति का ठिकाना न रहा।

प्रतिदिन नये उत्साह से काम होता पर मिट्टी-पत्थर के अतिरिक्त, ऐसा लगता, मानो भूगर्भ में कुछ है ही नहीं। पर अनिल हताश न था। उसके अन्दर से कोई कहता था कि यहाँ कोई अवशेष अवश्य मिलेगा। रात को, सारे दिन के निरीक्षण की थकान के बाद वह सोने का उपक्रम करता तो उसे लगता मानो धरती के नीचे कोई वस्तु धड़धड़ा रही हो। वह सो जाता पर फिर वैसा ही शब्द सुनकर चौंक पड़ता। पर जागने पर चौकीदारों की 'जागते रहो' और गाँव के कुत्तों के भूँकने की आवाज के अतिरिक्त और कुछ न सुनाई पड़ता। वह फिर सोने का प्रयत्न करता पर वह शब्द उसे बढ़ता ही हुआ लगता। एक बार वह चीखकर खाट से उछल पड़ा था। उसे ऐसा लगा था जैसे उसकी खाट के नीचे की धरती में गड़ी हुई कोई वस्तु करवट-सी बदल रही हो। उसमें चीजों के खींचे जाने तथा उठाने और

रखने की साफ शब्द हो रहा था। कुछ फुसफुस-सी आवाज भी हो रही थी जैसे बहुत-से स्त्री-पुरुष परस्पर धीरे-धीरे बातचीत कह रहे हों। उठकर उसने चौकीदार को आवाज दी—

'देखो तो बग़ल के खेमे में कोई चोर तो नहीं घुसा है ?'

'चैन से सोइए बाबूजी, चोर-वोर कुछ नहीं है' उसने खाँसते हुए उत्तर दिया।

उस रात उसको फिर कुछ नहीं सुनाई दिया।

❀ ❀ ❀

कुछ दिनों बाद, मध्यरात्रि के अंधकार को चीरती हुई आवाज ने जब पूछा कि 'कौन है' तो अनिल एकाएक घबड़ाकर चौंक पड़ा। उसने देखा कि जिस भूमि की खुदाई उसके संरक्षण में हो रही थी उसी के एक कोने पर बैठा ऊँघ रहा था। तब तक चौकीदार पास आ गया था।

'अरे, अनिल बाबू। रात में यहाँ क्या काम कर रहे हैं ?'

'कुछ नहीं, मच्छर तंग कर रहे थे, इसी से बाहर निकल आया। भीतर नींद नहीं पड़ती।'

उससे अनिल ने जान छुड़ाई और उठ कर अपने खेमे की ओर बढ़ गया। मार्ग में उसे सर में हलका-हलका दर्द मालूम हो रहा था और वह यह स्मरण करने का प्रयत्न कर रहा था कि आख़िर ऐसी अँधेरी रात में वह सोते-सोते अपने डेरे से उस ऊबड़-खाबड़ में कैसे जा पहुँचा। उसे कुछ भूली-भूली सी बातें याद पड़ने लगीं। उसने देखा था कि श्वेत वस्त्रों में सुसज्जित एक परिचारक ने आकर प्रणाम किया था। उसके हाथ में सोने के पतर से मढ़ा हुआ एक दंड था। उसने विनय से कहा—

'सम्राट् आपकी प्रतीक्षा मन्त्रण-गृह में कर रहे हैं।'

उसने पूछा—'और कोई भी है, या सम्राट् अकेले हैं?'

'महामन्त्री और और न्याय-सचिव भी उपस्थित हैं।'

'अच्छा तो चलता हूँ।'

'बहुत अच्छा श्रीमान्!'

अनिल को लगा कि उसने अपना शिरस्त्राण मस्तक पर रक्खा तथा स्वर्ण की आभा से सुसज्जित उत्तरीय गले में डाला और दंडधर के पीछे-पीछे मन्त्रणा गृह के द्वार पर पहुँच गया। उसने झुककर प्रमाण किया और कहा—'सेनापति जी प्रवेश—आज्ञा चाहते हैं, महाराज।'

'उन्हें आने दो'—भीतर एक गंभीर शब्द हुआ और दंडधर उलटे ही, प्रणाम करके, लौट पड़ा।

अनिल ने प्रवेश किया ही था कि चौकीदार के शब्द ने उसे चौंका दिया और वह उठकर खेमे की ओर आने लगा। इस भयावह घटना में भी उसे आनन्द की एक क्षीण रेखा दिखाई दी।

फिर कुछ दिनों तक यथा विधि काम होता रहा। अनिल ने अपने को धीरज देना चाहा पर उसकी उत्कण्ठा और व्यग्रता बढ़ती ही गयी। वह उड़ते हुए विचारों को सीमित रखने का प्रयत्न करता था पर अपने को लाचार पाता। और कोई होता तो ऐसी अदृश्य अटनाओं से भयभीत होकर काम छोड़कर भाग जाता पर उसको तो जैसे उसी में आनन्द मिलता हो। काम तो चलता पर कल्पना के पंखों पर उड़कर वह सदा अतीत में ही रहता। वह यही इच्छा करता था कि यदि वह उस युग में होता तो कितना अच्छा होता।

उसका मानसिक संघर्ष इतना बढ़ने लगा कि वह कुछ विक्षिप्त और अनमना-सा रहने लगा। उसके व्यवहार में कटुता तथा चिड़चिड़ापन आने लगा और वह सदा अकेले ही रहना चाहता। वही अनिल जिससे मजदूर हँसकर बोलते और निस्संकोच जिसके सामने अपने गुब्बार निकाल लेते थे, अब उन्हें भयानक लगने लगा था और उससे कोई काम पूछने में भी उन्हें भय लगता था।

पर अनिल अपनी ही धुन में मस्त था। एक दिन वह बैठा हुआ खुदाई देख रहा था कि उसे ऐसा लगा मानो कहीं घुँघरू और बिछुओं की ध्वनि हो रही हो। फिर धीरे-धीरे उसे लगा मानो वह सुसज्जित भवन में पहुँच गया हो। द्वारों पर दण्डधारी द्वारपाल घूम रहे थे और भीतर से मृदंग का गंभीर शब्द घुँघरुओं को नचा रहा था। फिर उसे भासित हुआ जैसे वह कोई श्रेष्ठ पदाधिकारी हो गया हो। द्वारपालों ने शीश झुका लिया और वह प्रवेश करके, सम्राट् को प्रणाम करके, एक रत्नजटित सिंहासन पर बैठ गया। महाराज के जन्मदिवस का उत्सव था। विशाल रंगभवन की शोभा अपूर्व थी। दूर पर, सम्राट् अपने रत्न-जटित शुभ्र-सिंहासन पर विराजमान थे। हीरक-हार उनके विशाल वक्षस्थल की शोभा बढ़ा रहा था। मणियों से विभूषित सुवर्ण-मुकुट उनके सुन्दर आनन को देदीप्यमान कर रहा था। लम्बे, घुँघराले केश उनके विशाल कन्धों पर बिखरे हुए थे और उनके स्मित हास से सारी सभा प्रकाशित थी। पीछे युवती परिचारिकाएँ धीरे-धीरे चँवर डुला रही थीं। नीचे अपने-अपने सुसज्जित स्थानों पर पदाधिकारिगण विराजमान थे। झाड़ फानूसों से सारा भवन जगमगा रहा था। पुष्पों की मादक सुगन्धि के

बीच में, कभी-कभी, सुगन्धित धूप का झोंका आ जाता था। ऊपर झरोखों से कभी-कभी आभूषणों की झनकार आती थी और कोमल पद-ध्वनि से, किसी कोमलांगी के आने-जाने का अनुमान होता था।

ऐसे में, नाना प्रकार के वाद्यों के ताल पर राज-नर्तकी नृत्य कर रही थी। उसके घुँघरुओं की झनकार से सारी सभा मुग्ध थी और राज-भवन मुखारित। अनिल मन्त्रमुग्ध-सा सब देख रहा था कि आवाज के एक झटके ने उसे चौंका दिया। मजदूर कह रहा था—

'अनिल बाबू!' अनिल बाबू!! एक दरवाजा निकला है; चलिये देखिये।'

राजसभा से एक मिट्टी के टीले पर ला पटके जाने पर उसको बहुत बुरा लगा। पर साथ एक खुशी की बात थी। वह मजदूर के पीछे-पीछे लपका।

वह एक तोरण था, अनिल ने ध्यान से देखा। फिर कुछ दिन बाद ऐसी ही एक और घटना हुई।

अनिल को लगा जैसे राज्य पर यवनों ने आक्रमण कर दिया हो और वह सेनापति हो। दुर्ग में सैनिकों के झुण्ड के झुण्ड इकट्ठे होने लगे। शस्त्रों की झनझनाहट और सुसज्जित सैनिकों की वेश-भूषा से नगर का वातावरण आन्दोलित हो उठा। दूसरे दिन आक्रमण का शुभ मुहूर्त था और सैनिकों ने सम्राट् और सेनापति के सामने एक स्वर से स्वदेश की रक्षा के लिए आमरण युद्ध करते रहने की प्रतिज्ञा की थी। नगर के वातावरण में एक विचित्र-सी स्फूर्ति थी।

सन्ध्या को जब अंशुमाली क्षितिज की सीमा के उस पर

द्रुतगति से बढ़े जा रहे थे, मदनोद्यान में प्रधान सेनापति देवधर एक लता-कुंज के समीप विचार-मग्न बैठे थे। शीतल समीर पुष्पों का पराग चुराकर भागा जा रहा था और देवधर सोच रहा था कि वह चन्द्रलेखा को कैसे सान्त्वना देगा।

तभी एक कोमल मधुर शब्द ने उसकी समाधि भंग कर दी।

उसने देखा कि दासी लवंगी, राजकुमारी चन्द्रलेखा के साथ हाथ में थाल लिये आ रही थी।

और उसने बढ़कर चन्द्रलेखा का कोमल कर अपने हाथों में दबा लिया। लवंगी थाल रखकर चली गयी।

"चन्द्रलेखा !"—देवधर ने पुकारा।

"....."

उसके नयनों में नीर छलछला आया।

"रोती हो चन्द्रलेखा !" उसने कहा—"कल समर-यात्रा है, और तुम अपशकुन कर रही हो ? हँसते-हँसते विदा दो चन्द्रा, मातृ-भूमि की रक्षा के लिए यदि प्राण भी अर्पण करने पड़ें तो कम है, और हमारा-तुम्हारा प्रेम तो ही अमर है, यहाँ नहीं, तो स्वर्ग में तुम मेरी ही होगी।"

"नाथ ! मैं भी कल युद्ध-क्षेत्र में जाऊँगी।"—राजकुमारी बोली।

"पागल मत हो चन्द्रलेखा, इतना अधीर तो मैंने तुम्हें कभी नहीं देखा था।"

"अधीर नहीं हूँ नाथ, मेरा शरीर भी तो देश-रक्षा में अर्पण होना चाहिये।"

और उसने देशधर के प्रशस्त ललाट को कुमकुम और अक्षत से रञ्जित कर दिया।

❀ ❀ ❀

फिर अनिल घोर युद्ध के मध्य आ पड़ा।

शत्रुओं से घिरा हुआ देवधर बड़ी वीरता से लड़ रहा था। सन्ध्या निकट थी और शत्रुसेना संख्या में बहुत अधिक थी। तभी एक बाण ने उसके अश्व को घायल कर दिया। वह भूमि पर गिर पड़ा। एक और बाण उसे लगनेवाला ही था कि एक युवक योद्धा बीच में आ गया और आहत होकर मूर्छित हो गया। देवधर ने उसके लम्बे-लम्बे केश देखे और शीघ्रता से उसे एक दूसरे अश्व पर लाद, युद्ध क्षेत्र से बाहर हो गया।

सूर्य अस्ताचल में मुँह छिपा रहे थे, तब देवधर ने आहत योद्धा को भूमि पर लिटाते हुए पूछा—

"चन्द्रलेखा, तुमने यह क्या किया?"

वह सचेत हो चुकी थी—

"कुछ नहीं", यह तो मेरा कर्त्तव्य था। उसका सुन्दर मुख दैवी छटा से देदीप्यमान था। वह फिर मूर्छित होने लगी।

"चन्द्रलेखा! राजकुमारी!! मुझे छोड़कर कहाँ जा रही हो?"—देवधर चिल्ला उठा।

'क्षमा, नाथ!'

सूर्य पूरी तौर से छिप चुका था।

तभी गगन-मण्डल सम्राट् की जयजयकार के नारों से गूँज उठा। एक सैनिक ने अभिवादन करके कहा—

"सेनापति, 'सम्राट् विजयी हुए; परास्त यवन सैनिक भाग रहे हैं।"

"सम्राट् से कह देना वसंत, कि देश की तो रक्षा हुई, पर देवधर का राज्य लुट गया।" उसकी आवाज़ काँप रही थी।

तभी हँसी की आवाज़ सुनकर अनिल चौंक पड़ा। उसको बड़बड़ाते देख सारे कर्मचारी और श्रमजीवी उसके चारों ओर एकत्र होकर साश्चर्य हँस रहे थे। उसका मस्तिष्क सहसा उद्भ्रान्त-सा हो गया और वह चिल्ला उठा—

"तुम सब यहाँ क्यों एकत्र हो रहे हो?" जाओ सम्राट् को बधाई दो और आनन्द मनाओ, और वसंत!'—उसने उठते हुए, एक मज़दूर को पकड़कर कहा, "सम्राट् से कह देना, देवधर का राज्य लुट गया, चन्द्रलेखा अब इस लोक में नहीं है।"

"तुम सब जाते क्यों नहीं, अपने सेनापति की आज्ञा का उल्लंघन करते हो'—वह गरज उठा और "देवधर का राज्य लुट गया, चन्द्रलेखा इस लोक में नहीं है" कहकर अनिल रो पड़ा।

क्रांतिकारी

रात के सन्नाटे में डाक गाड़ी पूरी रफ्तार से भागी जा रही थी। थर्ड क्लास के एक कोने पर, चार सिपाहियों से घिरा एक युवक क़ैदी बैठा था, और दूसरे पर सिकुड़ी हुई बीस इक्कीस साल की एक युवती। युवती, भरी हुई भीड़ की उपेक्षा करके, एक टक उस बन्दी को देख रही थी। वह विचारों में उलझा हुआ था। चौबीस पच्चीस साल की वयस, बिखरे हुए लम्बे-लम्बे बाल, ऊँचा माथा, बड़ी-बड़ी पैनी आँखें और गोरा वर्ण, एक खद्दर का पैजामा, कुर्ता और मोटा-सा कंबल उसने वैसे ही डब्बे भर में आँखें दौड़ाईं। एक क्षण युवती की आँखों से टक्कर हुई और वह फिर गर्दन झुका कर कुछ सोचने लगा। युवती भी, बाहर शून्य अंधकार में कुछ टटोलने लगी। सिपाही ऊँघ रहे थे कि एकाएक धड़ाके के शब्द के साथ ज़ोर का धक्का लगा।

युवती को जब चेतना हुई तो उसने देखा कि वह उसी बन्दी के ऊपर औंधी पड़ी है। रोने और कराहने का शब्द ही बस उस सन्नाटे में गूँज रहा था। रक्त से सने हुए मृत और मृतप्राय शरीर चारों ओर छितरे हुए थे। सिपाही बिलकुल पिच गये थे। उसने बन्दी के मस्तक पर हाथ रक्खा और झट से हटाकर देखा कि वह रक्त से भीग गया था। उसे झकझोरा, पर कोई उत्तर न पाया। उसने उठने की

कोशिश की पर बेकार। बेंच के बीच में उसका पैर दब गया था। उसने धीरे से पुकारा—

"बन्दी, बन्दी...।"

"....."

"बन्दी..." और उसे फिर झकझोर दिया। उसका शरीर कुछ हिला।

"बन्दी, चलो भाग चलो..."

"....."

"जीते हो, बन्दी ?"

"हाँ, क्या हुआ ?" वह कराहा।

"गाड़ी लड़ गई है, उठो, जल्दी भाग चलो।"

"तुम कौन हो ?"

"अरे जल्दी चलो, नहीं तो लोग आ जायेंगे।"

"मेरे हाथ में हथकड़ियाँ हैं।"

"ओफ.....उठने की भी तो कोशिश करो, देर मत करो।"

"....."

"कहीं चोट लगी है ; बन्दी ?"

और दोनों एक दूसरे को सहारा दिये हुए अंधकार में विलीन हो गए।

❀ ❀ ❀

"आप मुझे साथ क्यों ले आईं, मैं तो एक क्रांतिकारी हूँ, पुलिस फिर मेरे पीछे लगेगी। मुझे मृत्युदंड मिल चुका है बन्दी ने चलते हुए कहा।

"परवाह न कीजिये, चले चलिये, जल्दी-जल्दी, मुझे पुलिस का भय नहीं।" युवती बोली।

"आप समझती नहीं, मैं बाग़ी हूँ, मेरे साथ रहना या मुझसे सहानुभूति दिखाना भी जुर्म है।"

"अच्छा आप चुप रहिए, लीजिए शाल लपेट लीजिए।"

"क्यों ?"

"जिससे हथकड़ी छुप जायें, सुबह हो रही है, गाँव पास है।"

"और आप जाड़े में....."

"ओढ़िए भी, ज़िद न करिए।"

"और आपके माथे से रक्त बह रहा है।" वह साड़ी का पल्ला फाड़ने लगी।

"हैं, हैं," बन्दी ने रोका।

"आप बड़े अजीब मालूम होते हैं।" पट्टी बाँधते हुए वह बोली।

"आप तो....."

"क्या ?"

बन्दी चुप हो रहा।

❀ ❀ ❀

"आपने मुझसे सहानुभूति क्यों दिखलाई ?"

"बड़ा अजीब सवाल है आपका।"

"हाँ, मैं समझता था आप यही कहेंगी। ठीक है, हर कोई यही कहेगा। क्योंकि सवाल ही ऐसा है। पर आप समझती नहीं मेरे साथ रहना, या यों कहिए मुझे साथ रखना कितना ख़तरनाक है। पुलिस ने मुझे फाँसी पर लटकवा ही दिया था, पर आपने कृपा करके....."

"देखिए ऐसी बात न कहिये।"

"क्यों नहीं ! आपने मुझे मौत के मुँह से खींच लिया

है। मेरा जीवन तो शेष हो चुका था। आपने जिसे जीवन दान दिया है वह आपका होना चाहिए पर.....मैं तो एक बार दान दे चुका हूँ। देश क्या कहेगा ?"

"पर मैं तो आपसे कुछ नहीं माँगती, आप ऐसी बातें क्यों करते हैं.....हाँ देखिए, दवा ठंडी हो रही हैं, लाइए बाँध दूँ.....और क्या आप समझते हैं कि आप ही देश के लिए मरना जानते हैं। कितने हैं ? और मैं क्या अपने लिए जी रही हूँ। जो समाज और राज्य मेरा पालन पोषण और रक्षा करता है, उसके प्रति भी तो मेरा कुछ कर्तव्य है। जो बनाता है, उसी की सेवा में अन्त होना चाहिए। और मेरा मत यही है। और सहानुभूति की बात भी लीजिए। जो आप चाहते हैं वही मैं भी चाहती हूँ, फिर अगर मैं आपसे सहानुभूति रखती हूँ तो कोई गुनाह या अन्याय तो है नहीं...।"

"ओहो ! आप तो नाराज़ हो गईं....और हाँ, कई दिनों से मैं एक बात पूँछना चाहता था। आपको क्या कह कर....।"

"बड़ा घुमा के पूँछा। सीधे से पूँछते कि तुम्हारा नाम क्या है तो मैं कह देती, लज्जा।"

"और शायद आप भी....मुझे धीरेन्द्र कहते हैं।"

"बातें ही करेंगे या कुछ खायेंगे भी। आलू अभी वैसे ही पड़े...."

"ओफ़, आप बड़ी सख्त हैं....।"

"एक बात करोगी, लज्जा। तुम मेरी पार्टी की मेम्बर क्यों नहीं हो जातीं। क्षमा कीजियेगा, आप मेरी पार्टी..."

"बस, अब हम" "आप" से "तुम" हो चुके। फिर

"आप" कह के दूरी न बढ़ाइये। और मैं तो एक गुरू की खोज में थी ही।"

❀ ❀ ❀

"अरे, धीरेन! धीरेन!! क्या हम अपनी आँखों पर विश्वास करें?"

"हाँ, मैं ज़िंदा हूँ; ट्रेन-दुर्घटना ने फाँसी से बचाया और ट्रेन-दुर्घटना से आपने।" लज्जा की ओर संकेत करके धीरेन्द्र बोला।

"पूरा संघ आपका आभारी है, बैठिये।" एक नवयुवक ने जो सबका लीडर-सा लगता था, लज्जा से विनय की।

"लज्जित न कीजिये, मैंने कुछ नहीं किया, सब भाग्य की बात है" लज्जा बोली।

"धीरेन, ठीक है?" उस युवक ने धीरेन्द्र से पूँछा।

"बिलकुल"

"तो आज से आप इस संघ की मेम्बर हुईं, हम सब आपका स्वागत करते हैं।"

"धन्यवाद, मैं प्राणपण से संघ के उद्देश्य और सम्मान की रक्षा करूँगी और इसके अनुशासन से अपने को पूर्णतया आबध्य समझूँगी।"

"श्रीमती लज्जावती, आपको अपने रक्त से हस्ताक्षर करने होंगे।"

"सहर्ष, मैं इसे अपना सौभाग्य समझती हूँ।" उसने अपने बाजू के रक्त से नोटबुक पर हस्ताक्षर कर दिये।

"अच्छा तो अब हम दोनों को आज्ञा दीजिये।" धीरेन्द्र ने युवक से कहा।

❀ ❀ ❀

घोर जंगल के एक अगम्य कोने पर एक दिन पार्टी के सब सदस्य उपस्थित थे। "इस कपड़े के पुतले के सीने में गोली मारनी है।"

"वरिन, नरेश, शेखर और खाँनसाहब, आपके निशाने क़रीब-क़रीब ठीक हैं, अच्छा, अब धीरेन तो चलाओ।"

"ग्लेन्डिड, वेलडन" युवक बोला।

"लज्जावती, अब आपका नम्बर है, तैयार हैं न ?"

"ओह ! मार्वेलस, आपका निशाना बहुत अच्छा है; मेरी राय में आप और धीरेन ही इस काम को सबसे अच्छा कर सकेंगे....और रमीन्द्र, तुम अपना निशाना सुधारो, सबसे खराब है।"

युवक फिर बोला, "अच्छा तो कल, साढ़े चार बजे, 'राउल्ड-हाउस' के पास; ईश्वर आप लोगों के साथ हो; धीरेन और लज्जा इस संस्था को तुम दोनों पर विश्वास और अभिमान है।"

❀ ❀ ❀

बहुत रात बीत चुकने पर रमीन्द्र घर से निकला। वह बहुत चौकन्ना होकर चल रहा था। थाने के समीप पहुँचकर वह एकाएक जल्दी से फाटक में घुस लिया। अन्दर, वर्दी पहिने हुये कुछ अफ़सर लोग आपस में बातचीत कर रहे थे। रमीन्द्र को देखते ही एक बोल उठा—

"हलो, रमीन्द्र, कहो कैसी 'प्रोग्रेस' है ?"

"बिलकुल ठीक चल रहा है; कुछ दिनों में पूरा 'गैंग' का 'गैंग' लो। अब तो मैं उस पार्टी का मेम्बर हो ही गया हूँ। और कल तो खास दिन है। आज पार्टी की मीटिंग

थी। 'ट्रायल' हुआ। मैंने जान-बूझकर निशाना खराब किया जिससे चुना न जाऊँ। दो आदमी—एक आदमी और एक औरत चुने गए हैं। कल—पर गोली चलाने को। और जानते हो आदमी कौन है; वही 'रेलवे एक्सीडेन्ट' से बच कर भागा हुआ धीरेन्द्र। पर उसकी तो मौत आ चुकी है। फँसेगा ही, तो कल सादी वर्दी में हथियार बन्द पचीस-तीस आदमी लेकर 'राउण्ड-हाउस' के पास साढ़े चार बजे मौजूद रहना। हजारों की भीड़ होगी उन्हीं में मिले रहना.....। अच्छा अब इजाजत दो।"

"अरे, रमीन्द्र तुम पूरा हाल क्यों नहीं बताते।"

"अभी कुछ कसर है, थोड़ा सब्र करो।"

❀ ❀ ❀

राउन्ड-हाउस-रोड पर जन समुदाय उमड़ा पड़ता था। पुलिस और फौज का खूब प्रबंध था जो बढ़ती हुई भीड़ को क़ाबू में किए थी। साढ़े चार बजने के क़रीब था और की सवारी उस सड़क से निकलने को थी। धीरेन्द्र और लज्जा उसी भीड़ में अपने-अपने भरे हुए रिवाल्वर के साथ मिले हुए थे और रमीन्द्र छुप-छुपकर उनका पीछा कर रहा था। उसने सावधानी से उनके कपड़ों पर लाल रंग छिड़क दिया और अपने साथियों को उसकी खबर कर दी। हाथी—सवारी का—दूर पर आता हुआ दिखाई दिया। लज्जा और धीरेन्द्र सड़क के और पास आ गये कि इतने में उन दोनों को बहुत से आदमियों ने पकड़ लिया। थोड़ा शोर मचा पर चट ही दोनों के हथकड़ियाँ पड़ गईं, रिवाल्वर छीन लिए गए और वे भीड़ के बाहर हो गये।

रास्ते में रमीन्द्र खड़ा हँस रहा था। "नमस्ते कामरेड्स, कहिए कहाँ चले ?" और वह फिर हँस पड़ा।

"अच्छा तो आप सी० आई० डी० हैं।" लज्जा का चेहरा तमतमा उठा और उसका अधर क्रोध और घृणा से फड़कने लगा।

"कहिए मेरा निशाना खराब है या अच्छा ? आप लोग चलिए, कुछ दिनों में आपके सब साथी आपके पास आ जायँगे, अब चलूँ।" पार्टी की मीटिंग है, 'चियर टू बोथ आफ़ यू।'

"देशद्रोही, नीच" लज्जा ने क्रोध से कहा।

❀ ❀ ❀

जाड़े की ठिठुरती हुई रात थी। गाड़ी धीरेन्द्र और लज्जा को किसी अज्ञात स्थान में ले जाने को तेजी से भागी जा रही थी। दोनों के हाथ में हथकड़ियाँ पड़ी हुई थीं और आधे दर्जन सिपाही उनके साथ थे। वे कम्बलों में लिपटे हुये ऊँघ रहे थे। धीरेन्द्र और लज्जा विचारों में डूबे चुप बैठे थे। लज्जा ने धीरे से कहा—"अगर फिर 'एक्सीडेंट हो जाये तो ?"

"'चांस' है लज्जा।" अनमना सा धीरेन्द्र गुनगुनाया।

"मेरी हथकड़ियों की डोरी पर ज़रा तेजाब डाल दो, बाहर कूद जाऊँ फिर ईश्वर मालिक है। मेरी बालों की लट में है।" लज्जा उसके कान के पास मुँह ले जाकर बोली।

"नहीं लज्जा ! बड़े खतरे का काम है ; और फिर क्या फ़ायदा।"

"समझते नहीं, एक 'स्कीम' है ; अगर बच गई तो प्रयत्न करूँगी.....।"

"स्टाप" धीरेन्द्र ने जैसे हवा से कहा। पास बैठा हुआ सिपाही जाग उठा था। पर थोड़ी देर के बाद वह फिर ऊँघने लगा। वह निश्चिंत था क्योंकि हथकड़ी के दूसरे सिरे की हथकड़ी उसके हाथ में पड़ी थी।

".....और अगर कूदना ही है तो मैं....."

"नहीं, दखल मत दो, देर करने से स्कीम फ़ेल हो जाये गी। बचूँ गी—पहले तो मौत से और फिर उन सिपाहियों से—तो मुलाक़ात हो ही जायगी।

"जरा झटका दो, ठीक है।"

"अच्छा ईश्वर सहायक हो।" कहकर लज्जा खिड़की से बाहर कूद गई। डिब्बे में कोहराम मच गया। जंजीर खींचने से पहिले ही एक सिपाही भी बाहर कूद गया।

❀ ❀ ❀

लज्जा को देखते ही पार्टी के सदस्य चौंक उठे। रमीन्द्र का चेहरा पीला पड़ गया। वह भागने ही को था कि लज्जा ने कस कर उसका हाथ जकड़ लिया—

"नीच कहीं का देश-द्रोही, जाता कहाँ है।" तब तक और लोगों ने भी उसे पकड़ लिया। उत्तेजित लज्जा कहने लगी—"यह महाशय सी० आई० डी० हैं। उस दिन हम लोगों को इन्हीं ने गिरफ़्तार करवाया और फिर हँस कर ताना दिया कि किसका निशाना अच्छा है। और फिर कहा कि घबड़ाइये नहीं पार्टी के और लोग भी जल्द से जल्द आप लोगों के पास आ जायेंगे।" वह चुप हो गई। उसका चेहरा क्रोध और घृणा से तमतमा उठा।

सब क्रोध से काँपने लगे और रमीन्द्र तो मानो अधमरा हो गया। मुकुल ने लज्जा से सब हाल सुनकर कहा—

"क्यों रमीन्द्र तुम्हें क्या कहना है ?"

वह गरदन झुकाये चुप रहा।

फिर मुकुल ने सबको सम्बोधन करके पूँछा—

"आप लोग क्या दण्ड उचित समझते हैं ?"

सब चिल्ला उठे—"प्राण दण्ड, प्राण दण्ड ; इस कुत्ते को पाँच मिनट का अवकाश दीजिए कि अपने गोली मार ले, नहीं तो....."

"नहीं, लज्जा देवी आपका निशाना बहुत अच्छा है। आप ही.....पर आप का दाहिना हाथ तो टूट गया है....।" मुकुल रुक गया।

"पर बायाँ तो ठीक है ; ऐसों के लिए वही बहुत है।"

"तो तैयार हो रमीन्द्र ; हमारे यहाँ तो विश्वासघात का यही सबसे कम दण्ड है।" मुकुल ने कहा।

रमीन्द्र रो पड़ा।

" 'यस' 'फायर'।"

रमीन्द्र का मृत शरीर पृथ्वी पर तड़पने लगा।

❀ ❀ ❀

इसके बाद लज्जा अपनी 'स्कीम' को पूरा करने को निकल पड़ी। उसने धीरे-धीरे पता लगा लिया कि धीरेन्द्र किस जेल को भेजा गया है। वहीं, जेल के समीप एक छोटी सी दूकान खोल ली। संघ का एक और सदस्य उसके पति के नाम से उसके साथ रहने लगा। जेल के कर्मचारीगण उसी से रोज के इस्तेमाल की चीजें लेते थे। धीरेन्द्र का मुक़दमा हो रहा था और लज्जा और अविनाश अपने काम में लगे हुये थे।

धीरे-धीरे एक वार्डर मिलाया गया। वह पक्का आदमी था। धीरेन्द्र के पास पत्र पहुँचने लगे और उसको बाहर

निकालने की स्कीम बनने लगी। सब ठीक हो जाने पर उसकी बेड़ियाँ काटने को तेजाब भेज दिया गया।..... तारीख, दो बजे रात, समय निश्चित् हो गया।

दो बजने वाले थे। जेल में कभी-कभी सीटी की तेज आवाज निस्तब्धता भंग कर देती थी। ऊँची दीवार के पिछवाड़े लज्जा अंधकार में छुपी हुई थी और दीवाल पर रस्सा लगा हुआ था। धीरेन्द्र ने तेजाब से कुंडी काट ली थी और सब चीजें वहीं कोठरी में ही छोड़ दी थीं। पास ही सड़क पर अँधेरे में एक मोटर खड़ी हुई थी। उस पर कोई नहीं था। दो का घंटा बजते ही धीरेन्द्र कोठरी से निकला। अँधेरे में छुपता हुआ, निश्चित स्थान पर दीवार के पास आ पहुँचा। उसका दिल धड़क रहा था पर वह बहुत शांत रहने का प्रयत्न कर रहा था। आते ही उसने रस्सा हिलाया। लज्जा प्रसन्नता से नाच उठी पर अवसर का ध्यान करके वह सतर्क हो गई। धीरेन्द्र रस्सी के सहारे धीरे-धीरे दीवार पर चढ़ने लगा। वह लज्जा का हाथ पकड़कर दूसरी तरफ उतरने ही वाला था कि एकाएक जेल में खतरे का घंटा बज उठा। लोग जाग पड़े और चारों ओर से "क़ैदी भागा ; क़ैदी भागा" का शब्द आने लगा।

"कंग्रेचुलेशन्स् कामरेड" लज्जा ने धीरेन्द्र को जल्दी से खींचकर कहा। उसके प्रफुल्लित आनन पर विजय के चिह्न स्पष्ट थे।

"थैंक यू, क्यों लज्जित करती हो लज्जा।"

"जल्दी मोटर पर भागो, जेल वाले जाग गये हैं दोनों दौड़कर मोटर पर चढ़कर भागे। तब तक अविनाश शहर के बाहर हो चुका था।

❀ ❀ ❀

सन्नाटे में धूल उड़ाती हुई मोटर भागी जा रही थी। लज्जा बहुत तेज़ ड्राइव कर रही थी क्योंकि पुलिस की 'वान' भी पूरी रफ़्तार से पीछा कर रही थी।

"अब बचना मुश्किल है।" धीरेन्द्र ने निस्तब्धता भंग की।

"मेरी साध पूरी हो गई, मैं सन्तुष्ट हूँ, अब जो भी हो सामना तो करना ही है।" लज्जा बोली।

"तुमने मेरे लिये कितना किया लज्जा, यदि मैं इसका एक अंश भी कर पाता.....।"

"फिर वही, पागलों सी बातें।"

".....कुछ भी कहो लज्जा, यह शरीर तुम्हारा है। तुमने दो बार अपनी जान पर खेलकर मुझे मौत से बचाया। पर मेरा बदला तो देखो। मैं तुम्हें मौत के मुँह में भगाये लिये जा रहा हूँ.....।"

"अच्छा चुप रहिए.....।"

चुप क्या रहूँ। मेरे हृदय में जो ज्वाला धधक रही है उसका अनुभव तुम नहीं कर सकतीं। मैं चाहता हूँ कि इस इस जन्म में नहीं तो दूसरे जन्म में ईश्वर मुझे अवसर दे कि मैं तुम्हारा बदला चुका सकूँ .....।"

"तो आप अपने में और मुझमें भेद-भाव रखते हैं। जानते हैं इससे मुझे कितनी वेदना होती है। यह शरीर तो आप ही का है। और आपके द्वाराही देश सेवा करना चाहता है। आपने मुझे सहारा दिया, मुझे स्वीकार किया, यह क्या कोई कम उपकार है .....।"

"नाराज़ न हो लज्जा, अन्तिम समय है, मुझे क्षमा कर दो.....।"

"ठीक है, अब भी वैसी ही बातें।" लज्जा के गालों पर मोती से दो आँसू ढुलक पड़े।

धीरेन्द्र ने अपने हाथ से आँसू पोंछ दिये।

पुलिस वान बहुत पास आ गई है, क्या कहती हो लज्जा।" धीरेन्द्र ने पूछा।

"मेरा एक विचार है, यदि आप सहमत हों ।"

"समझ गया, वही विचार मेरे दिमाग में भी घूम रहा है। यही न कि इन लोगों को आत्म समर्पण करने से अच्छा तो गाड़ी लड़ा कर मर जाना ही है?"

"तो आप सहमत हैं। मैं इन लोगों के हाथों में अपना पवित्र शरीर नहीं अर्पण करना चाहती। सम्मानपूर्वक आत्महत्या कर लेना ज्यादा अच्छा है।"

इतने में पीछे के 'मडगार्ड' पर एक गोली आकर लगी। लज्जा ने 'स्पीड' बहुत बढ़ा दी।

"मैं चाहती हूँ कि अगले जन्म में भी इसी पवित्र भूमि की सेवा करने का अवसर ईश्वर दे। और हमारा आपका सम्बन्ध तो अमर है।"

धीरेन्द्र ने आँसू पोंछकर हँसते हुये कहा, "तुम्हारे साथ मरते हुए मुझे गर्व होता है लज्जा। तुम सचमुच वीरांगना हो।

"अच्छा ईश्वर सहायक हो, बिदा,।" लज्जा ने कहा।

"बिदा वीरांगना, बिदा, ईश्वर सहायक हो।"

दोनों के अधर एक क्षण को मिले।

पूरी रफ्तार से भागती हुई मोटर एक विशाल वृक्ष से टकरा गई।

रुकी

जाड़े की ठिठुरती हुई रात थी। अँधेरा इतना था कि हाथ से हाथ न सूझता था। नदी के तीर पर बसा हुआ छोटा-सा गाँव सिकुड़ा-सा पड़ा था। सैकड़ों झींगुरों की झनकार सहसा झटका दे दे कर रुक जाती थी और उल्लुओं और गीदड़ों की आवाज़ें अंधकार की भयानकता को बढ़ा रही थीं। सन्-सन् करती हुई पाले से लदी हवा चिथड़ों में लिपट शरीरों को छेदे दे रही थी, और वे गठरी से बने पुआलों में घुसे जा रहे थे। छोटे-छोटे निर्वस्त्र बच्चे मां की छातियों की गर्मी में चिपटे हुए थे। कभी-कभी आग के अलाव ऐसे भभक उठते थे कि गाँव के जल जाने का भ्रम होता था और कभी, किसी कोने में थकी हुई सूखी हँसी गूँज उठती थी।

एकाएक बर्फ़ का तूफ़ान सा चलने लगा। नदी की काँपती हुई लहरें किनारे पर थपेड़े मारने लगीं। झींगुरों की झनकार रुक गई। गीदड़ ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगे। उल्लू और चमगादड़ पर फड़फड़ाने लगे। छोटे-छोटे कमज़ोर छप्परों का फूस भागती हुई हवा के पीछे हो लिया और सैकड़ों मनुष्यों की आवाज़ें तूफ़ानी हवा में डूब कर क्षीण-प्राय हो गईं।

सारी रात ऐसा ही तूफ़ान रहा।

सूरज निकलते तक तूफ़ान बहुत दूर निकल गया था।

नदी का पानी जो किनारे पर चढ़कर गाँव की ओर बढ़ने लगा था, फिर वापस लौट चुका था, पर नई धरती को भीगी छोड़कर। लोग धूप में निकल कर अपनी लुटी हुई ग़रीबी पर आँसू टपका रहे थे। पर, रोज की तरह, चोली से यौवन को कसे हुए, लहँगे और ओढ़नी में ठिठुरती हुई रुक्की, कमर पर घड़ा रक्खे नदी के तीर पर पहुँच गई। उसके लिये मानो कोई असाधारण घटना नहीं हुई थी। घड़ा और कपड़े किनारे पर रख पानी में घुसकर वह नहाने लगी। एकाएक दूर पर उसे कोई आदमी उठते और फिर गिरते हुये दिखाई दिया। दोनों हाथों से लाज को ढके वह घबड़ाकर निकल आई और कपड़े लपेट कर उस आदमी की ओर लपकी। पास पहुँच कर वह ठिठक गई। एक बीस-इक्कीस साल का युवक ठिठुरा हुआ अचेत पड़ा था। उसके माथे के घाव का रक्त जम गया था और बाजू के घाव से धीरे-धीरे खून चू रहा था। रुक्की ने ओढ़नी फाड़ दी और युवक का सिर गोद में रख धीरे-धीरे रक्त पोंछने लगी। वह कुछ हिला और तभी रुक्की ने कहा—

उठो जी, कहाँ पड़े हो ?

युवक की भीगी पलकें गुलाबी आँखों से खिसकने लगीं। सर्दी के मारे उसका शरीर ऐंठ गया था और आँखें सुर्ख़ हो गई थीं। उसने हलके से कराहा—

मेरा सामान,....नाव.....और फिर अचेत हो गया। रुक्की घबड़ा गई। उसकी समझ में न आया कि वह उसको कैसे सम्हाले। पास में बड़ी सी एक डाल पड़ी थी और उसको समझते देर न लगी कि इसी से युवक घायल हो गया है। युवक फिर थरथरा उठा। रुक्की बोल पड़ी।

अरे जी, उठो, आओ मैं सहारा दूँ।

युवक ने हाथ बढ़ा दिया। और रुक्की ने उसका ढीला हाथ अपने गले और कंधे पर डालकर उसकी कमर साध ली। वह लँगड़ाकर घसिटने लगा। रुक्की उसे अपने घड़े के पास बैठाकर गाँव को दौड़ गई।

"बाबा! बाबा!! एक घायल आदमी नदी के तीर पर पड़ा है.....जल्दी चलो बाबा, कहीं वह मर न जाय।"

"कहाँ री, रुक्की, कैसा आदमी?"

बाबा जल्दी चलो, नहीं तो बेचारा मर जायेगा..... बाबा।

और बुड्ढा लाठी के सहारे चल पड़ा।

रुक्की कहने लगी—

"बाबा, मैंने नहाते हुए उसे देखा, फिर किसी तरह होश में लाई। कहता था—'नाव...मेरा सामान।'

"कहता था, नाव," बुड्ढे ने चलते-चलते पूँछा।

"हाँ बाबा, नाव, वह फिर अचेत हो गया। मैंने सहारा देकर उसे घड़े के पास बैठा दिया है। जल्दी करो बाबा, उसके बहुत चोट लगी। माथे से खून बह रहा है। सर्दी से अकड़ गया है।" वह हाँफने लगी।

"चल तो रहा हूँ, बेटी, भगवान चाहेगा तो वह मरेगा नहीं।" बुड्ढा बोला—

"रुक्की" बुड्ढे ने पूँछा।

"हाँ बाबा" वह बोली।

"कहीं कोई नाव तो कल रात नहीं डूब गई?" उसने पूँछा।

"यही होगा बाबा, उसने 'नाव' कहा भी था। कल रात तो बला का तूफ़ान चला था।" वह बोली—

"मैं दौड़कर जा रही हूँ. तुम तीर पर आना बाबा, कहीं वह मर न जाय।" रुक्की ने घबड़ाकर कहा—

"अरी चल तो रहा हूँ, घबड़ाती क्यों है, अब तो आ ही गये।"

"अरे! देखो बाबा, वह गिर न गया, कहती थी, कहीं मर न गया हो।" रुक्की रुँधासी हो उठी—

तब तक दोनों युवक के पास पहुँच गए।

बुड्ढे ने कहा—

"पानी तो ला, बेटी।"

रुक्की पानी ले आई और दोनों ने युवक को सचेत किया।

रुक्की बोल उठी—

"क्या नाम है तुम्हारा?"

"ज़रा चुप हो तो बेटी।" बुड्ढे ने मना किया; और प्यार से युवक से पूँछा।

"कैसे चोट लगी, बेटा? क्या कोई नाव डूबी थी, कल रात?"

"हाँ" युवक ने कंठ खोला।

"घर चलो, बेटा, बहुत सर्दी है।" बुड्ढे ने सहारा दे कर उसे खड़ा किया। रुक्की ने कमर पर पड़ा लिया दोनों सहारा देकर उसे मड़ैया में ले आए।

बात पुरानी हो चली। मुरली अब चलने-फिरने लगा। उसके घाव रुक्की की सेवा ने भर दिये। वह बूढ़े के घर बहुत सुखी था और वहाँ से हटना नहीं चाहता था। अल्हड़

भोली रुक्की स्नेह से भरा हुआ बाबा का हृदय और हरा-भरा शांत वातावरण, उसके दुःखित हृदय के लिये बहुत थे।

"बाबा, मैं तुम्हारी गायें चराऊँगा, मुझे यहीं पड़ा रहने दो।" उसने एक दिन कहा।

"तुमसे कौन कहता है मुरली, ऐसी बातें न किया करो। बुड्ढे ने कहा, "तुम घर के मालिक हो, मैं तो अब चल चलाव पर हूँ, ये घर है और मेरी बच्ची रुक्की...।" अपना नाम सुनकर रुक्की निकल आई—

"क्या कहते हो, बाबा।"

"कुछ नहीं, जा पानी भर ला, देर हो रही है, लौटकर रोटी पकाती है न!"

और रुक्की ने इशारा किया। मुरली पीछे-पीछे चल दिया—

"बाबा, मैं भी नदी नहाने जाता हूँ।"

और दोनों तीर पर आ गये।

"अब कभी जाओगे तो नहीं, मुरली।" रुक्की ने उत्सुकता से पूँछा।

"जाऊँगा क्यों नहीं रुक्की, घर पर मेरी राह देखी जा रही होगी।"

"अरे! तुम तो कहते थे मेरा घर बार ही नहीं है, जाओगे कहाँ?"

"जाना तो होगा ही, तुम लोगों को तकलीफ़ जो होती है!" रुक्की रोने लगी।

"अरे! बड़ी पगली है, रोने लगी, मैं नहीं जाऊँगा, तुझे और बाबा को छोड़कर अब कहाँ जाऊँगा, अच्छा अब हँसो तो?"

"सच, नहीं जाओगे ?" वह खिलखिला उठी।

"अच्छा आँखें बन्द करो, मैं पानी में उतरूँगी।"

"लो, बन्द कर लीं।"

कपड़े फेंक वह छुप से पानी में कूद पड़ी।

"अब आओ! देखते क्या हो ?"

मुरली भी तैरने लगा। दोनों खूब जी भर के नहाये।

"अच्छा मुरली, बाबा राह देखते होंगे, आँखें बन्द करो, मैं निकलूँगी।"

"लो, बड़ी अल्हड़ हो।"

"अभी बन्द रखना, कपड़े पहिन रही हूँ।"

"अब खोलो।" वह तैयार थी कमर पर पानी का घड़ा लिये।

"बड़ी अच्छी लगती हो रुक्की।"

मुरली ने तीर पर आते हुए कहा।

"धत्" रुक्की शर्माकर मुस्कराई।

और दोनों कुटिया पर आ गये।

एक दिन बाबा ने कहा—"बेटा मुरली, अब मेरा कुछ ठीक नहीं है। मेरी रुक्की को सम्हाल लो, बस यही मेरी अन्तिम इच्छा है। अभी अल्हड़ है मेरी बच्ची, देखो जतन से रखना। बेटे की तरह पाला है मैंने। बोलो बेटा, क्या कहते हो ?"

मुरली चुप रहा।

रुक्की कान लगाये घबरा रही थी। उसका हृदय धड़क रहा था।

"बोलो मुरली, चुप क्यों हो।" उसने फिर पूँछा।

"घबड़ाओ न बाबा, मेरे रहते तुम्हारी रुक्की को कुछ न होगा।" मुरली बोला—

"इधर आओ बेटा." बुड्ढे की आँखों में आँसू थे। उसने मुरली का मस्तक चूम लिया।

रुक्की भीतर भाग गई।

उस दिन से बाबा बहुत प्रसन्न और सन्तुष्ट रहने लगे।

"आज मुझे नहाने को नहीं बुलाया, रुक्की," मुरली ने घड़ा लेकर लौटती हुई रुक्की से पूछा।

वह लाज से शर्मा गई।

"तुमने कल की बातें सुनी ?"

"धत्"

"अरे, तुझे आज हो क्या गया ?"

वह जाने लगी।

"अच्छा, एक बात बताती जाओ, रुक्की।"

वह रुक गई।

"तुम्हें बाबा की बात पसन्द है ?"

"धत्"

"ऐसे नहीं जा सकतीं। जवाब तो देना ही होगा।"

"मुझे नहीं मालूम।" वह बोली।

"तो मंजूर है ?"

"हूँ।"

वह भाग गई।

आज गाँव के नये ज़मींदार आए थे। बड़ी चहल-पहल थी। लोग 'नज़र' ले-ले कर पहुँचने लगे। बाबा ने मुरली को भेजा। खेमे में घुसते ही वह सन्न हो गया। उसके पिता

ही नये जमींदार थे। वह जल्दी से पीछे लौटने लगा कि कि जमींदार साहब लपके—

"बेटा, वीरेन! ऐसे रूठ कर भागा कि पता ही न चला। सारी खोज बेकार हो गई। मुझे माफ़ कर दे। तेरी मां रो-रोकर पागल हो गई।

उन्होंने उसे छाती से चिपका लिया। दोनों के आँसू बह रहे थे।

उस दिन जमींदार साहब ने सब काम बन्द कर दिया। वे बहुत खुश थे।

"बाबा, बाबा, तुम्हारा मुरली तो जमींदार का बेटा निकला।"

"साजन, सच कहो, मेरा दिल बैठा जा रहा है। मुझसे हँसी न करो। देखो मेरी बच्ची कहीं ऐसी हँसी को सच न मान ले।"

"नहीं बाबा, मैं सच कहता हूँ, वह तो खेमे में ही रह गया।"

"अरे मेरी रुक्की का दिल टूट जायेगा, यह क्या हुआ।"

"मैं ठीक कहता हूँ बाबा।"

रुक्की अन्दर से सब सुन रही थी।

"बेटी! मुरली को भूल जाओ, वह जमींदार का बेटा है।"

"मुझे मालूम है बाबा।" रुक्की रोने लगी।

"अरे रोती क्यों है पगली, आ तेरे आँसू पोंछ दूँ।

आँसू पोंछकर बुड्ढे ने रुक्की को गोद में सुला लिया। उस दिन उन दोनों के घर अँधेरा रहा। खाना-पीना कुछ नहीं।

"रुक्की मैं भी नहाने आ गया।"

वह बोली नहीं।

"कल मैं जा रहा हूँ रुक्की।"

"मालूम है।" उसने मुँह फेरे हुए कहा।

"पिताजी नहीं मानते, माताजी बीमार हैं।"

"तो जाओ न, मैं रोकने वाली कौन हूँ।" वह रो पड़ी।

"नहीं रुक्की," मुरली का गला भर आया, "तुम और बाबा ही तो मेरे सब कुछ हो, पर पिताजी नहीं मानते।"

रुक्की रोती रही।

"तुम्हारा भार मैं इस जीवन में कभी नहीं उतार सकता रुक्की, मुझे दूसरा जन्म लेना होगा, तुम्हारा बनने के लिए।"

वह बोली नहीं।

"मुझे याद रक्खोगी न?"

"भला भूल सकूँगी।" और वह लौट पड़ी।

"कल फिर मिलना।"

पर उसने सुना नहीं। भीगे नयनों से बीरेन घड़ा ले जाती हुई रुक्की को देखता रहा।

ज़मींदार साहब का बजड़ा तट पर लगा था। तीर पर सारा गाँव उमड़ पड़ा था। बुड्ढा एक छोर पर खड़ा आँसू बहा रहा था। मुरली ने कहा—

"बाबा भूलना मत।" और वह फूट-फूट कर रोने लगा। बजड़े की रस्सी खोल दी गई। पतवारों की छपछप से पानी हिल उठा। मुरली की भीगी आँखें किसी को खोज रही थीं और बहुत दूर पर जाते हुए बजड़े को देखकर रुक्की आँसू बहा रही थी।

राजू

रात बीत रही थी, भोर होने को था।

टन ! टन !! टन !!!

जेल का अंधकारमय नीरव वातावरण प्रतिध्वनित हो उठा—

अभी घंटे की प्रतिध्वनि शांत भी न होने पाई थी कि धाँय ! धाँय !! के कठोर शब्द से शांतप्राय वातावरण पुनः प्रकंपित हो उठा—और फिर शब्दों की गूँज नीरव आकाश में धीरे-धीरे विलीन हो गई। जेल का अन्धकारमय वातावरण फिर शांन्त हो गया।

रात बीती जा रही थी, भोर समीप था।

❀ ❀ ❀

बूढ़े संतरी राजू ने अपनी इतनी लम्बी नौकरी में अब तक एक दिन की भी छुट्टी नहीं ली थी। उसके देखते-देखते न जाने कितने क़ैदी आए और अपने अपराधों की सज़ा काट कर जेल की मनहूस दीवारों के पार हो गये। पर राजू, अब भी, उसी में उल्लास-हीन दुःखित हृदय के साथ जीवन के दिन काट रहा था। कितने ही जेलरों से उसका पाला पड़ा, पर वह, वहीं, उसी जगह पर ज्यों-का-त्यों नियुक्त था।

उसके साथ के और भी दो-तीन संतरी उस जेल में थे। पर निकेतन से ही उसका अधिक मेल था और

इसी से दोनों खूब स्वतंत्रतापूर्वक बात-चीत किया करते थे। एक दिन विश्राम के समय निकेतन राजू से पूँछ ही बैठा—

भाई राजू! इतने दिन तुमको यहाँ नौकरी करते हो गये पर मैंने एक दफा भी तुमको छुट्टी लेते नहीं देखा। आखिर तुमको घर से इतनी चिढ़ क्यों है!

"निकेतन! मैंने अभी तक तुमसे यह बात नहीं बताई थी।" राजू बोला, "पर अब मैं ज्यादा छिपा नहीं सकता, क्योंकि धीरे-धीरे मैं इसी में घुला जा रहा हूँ। आज मैं अपना भार तुम्हारे सामने हलका करूँगा।" राजू कहता गया, साहब के मर जाने के बाद जब मैं हिन्दुस्तान आया, तब मैं सीधे अपने गाँव गया। पर वहाँ पहुँच कर न तो मैंने अपने घर का पता पाया और न अपनी स्त्री और छोटे भाई का। पहले तो घबराया पर बाद में जब पता लगाना आरंभ किया तो मालूम हुआ कि वे लोग मेरे जाने के बाद ही रजनीपुर चले गये थे। पर वे वहाँ भी न मिले। महीनों व्यर्थ उनकी खोज की। अन्त में निराश होकर यहाँ नौकरी कर ली। तभी से मैं बेघरबार वाला हूँ। तुम्हीं बताओ मैं कहाँ जाने के लिये छुट्टी लूँ?

❀ ❀ ❀

"तो तुम अपने अपराध को स्वीकार करते हो?"

"जी हाँ!"

"यानी तुम क़बूल करते हो कि तुमने दोनों ख़ून जान बूझकर किये?"

"जी हाँ!"

"तुमने ऐसा क्यों किया?"

"कारण मैं नहीं बता सकता, पर अपराध स्वीकार करता हूँ।"

"और कुछ कहना चाहते हो ?"

"जी नहीं ! कुछ नहीं।"

"तुमको फाँसी की सजा दी जाती है।" जज ने फ़ैसला किया

बन्दी सिपाहियों के साथ चला गया। लोग कानाफूसी कर रहे थे

❀ ❀ ❀

...कल उसको उसके अपराध का दंड मिल जायगा और वह फाँसी के तख्ते पर लटक जायगा। कल वह जेल से भी छूट जायगा। जेल से ही क्यों इस दुनियाँ से ही छूट जायगा। किसी और लोक में जायगा। कैसे लोग होंगे, कैसी दुनियाँ होगी.....। वह चिंता में डूबा रहा..।

फिर उठा और अपनी कोठरी में चिंतित भाव से इधर-उधर घूमने लगा।

कल.. मृत्युदंड....बन्दी सोच रहा था.....।

"संतरी जी ! उसने सीकचों के पास आते हुए कहा।

"मुझे आपसे एक बात कहनी है।"

"कहो क्या चाहते हो ?" राजू संतरी ने पूँछा।

"क्या कृपा कर आप मुझे काग़ज़ और क़लम दे सकते हैं ?"

"यद्यपि क़ानून मना करता है।" राजू बोला, "पर फिर भी मैं तुमको दे दूँगा।"

"धन्यवाद," बन्दी ने काग़ज़ और क़लम लेते हुए कहा।

वह देर तक लिखता रहा, और फिर लौटाते हुए उसने पूँछा—आप जेल के राजू संतरी को जानते हैं ?

राजू चौंका, पर दूसरे ही क्षण सम्हल कर कहा—

"हाँ ! जानता तो हूँ, क्यों ?

"कुछ नहीं, यों ही पूँछा ।"

राजू फिर टहलने लगा ।

"संतरीजी, मैंने आपको बड़ा कष्ट दिया, क्षमा चाहता हूँ ।" बन्दी ने संतरी को फिर बुला कर कहा," पर मेरी एक प्रार्थना और है, और यह मेरी अंतिम प्रार्थना होगी ।"

"अब क्या चाहते हो ?" संतरी ने दया भाव से पूँछा ।

"कृपा कर यह पत्र राजू संतरी को दे दीजिएगा, लेकिन अभी नहीं, मुझे फाँसी हो जाने के बाद" उसने पत्र देते हुये कहा ।

"बस ?"

"बस !"

संतरी पत्र जेब में डाल कर भूल गया और पूर्ववत् कोठरी के सामने टहलने लगा ।

रात्रि भयानक थी । हवा सांय-सांय चल रही थी । टन ! टन !! टन !!! टन !!!! टन !!!!! घंटे ने पाँच बजाये । उसकी आयु शेष होने में केवल एक ही घंटा बाकी था ।

"मार्च ।"

❀ ❀ ❀

सिपाहियों से घिरा बन्दी फांसी के तख्ते की ओर चल पड़ा। दूसरे ही क्षण वह फाँसी के तख्ते पर खड़ा था और उसके चारों तरफ सिपाही बन्दूक ताने खड़े थे।

मैजिस्ट्रेट घड़ी देख रहे थे— अभी पाँच मिनट बाकी थे।

"तुम किसी से मिलना या बात चीत करना चाहते हो ?" बन्दी से पूँछा गया।

"जी नहीं ! सिर्फ थोड़ा पानी....."

"वन, टू, थ्री....."

दृश्य बदल गया। बन्दी का प्यासा निर्जीव शरीर फाँसी के फंदे से लटक रहा था।

वह प्यासा ही मर गया।

❀ ❀ ❀

उसे फाँसी हुये सारा दिन बीत गया। रात हो चुकी थी। राजू अपनी ड्यूटी पर था। टहलते-टहलते वह सोच रहा था—कल में जिस बन्दी से बातें कर रहा था वही आज इस चहारदीवारी और संसार से मुक्ति पा गया। मर तो गया, मेरी तरह पड़ा सड़ तो नहीं रहा है। पता नहीं किसके लिये जी रहा हूँ। घर न बार। मरते समय उसने पानी माँगा था। पर वह प्यासा ही मार डाला गया। इस पर भी उसके चेहरे पर तेज था, मुस्कराहट थी.....।

एकाएक उसे याद आया। उसने राजू को एक पत्र दिया था। और मैं ही तो राजू हूँ। उसी समय पत्र क्यों न पढ़ लिया। ओह ! भूल हुई। मुझे आज कल क्या हो रहा है.....राजू सोच रहा था।

काँपते हुए हाथों से पत्र निकालकर पढ़ने लगा—

कारागार,
कालरात्रि।

पूज्य भाई राजू,

अपनी निश्चित् मृत्यु के कुछ ही घंटों पहले यह पत्र मैं लिख रहा हूँ। सुबह का सूरज मैं न देख सकूँगा और यह कालकोठरी भी औरों के लिये खाली हो जायगी पर जाने से पहिले मैं तुम्हें कुछ बता देना चाहता हूँ।

आश्चर्य तो होगा, पर यह मृत्युदंड पाने वाला बन्दी यूसुफ तुम्हारा ही छोटा भाई नेमू है और यह दंड उसको अपनी भाभी तथा उसके प्रेमी की हत्या के अपराध में मिला था।

तुम्हारे विलायत जाने के बाद मैं अपनी भाभी के साथ रजनीपुर चला गया और वहाँ नौकरी कर ली। हम लोग ज्यादा दिन न रहने पाये थे कि वहाँ बाढ़ आ गई और उसी में हमारा घर-द्वार सब बह गया। मुसलमानों की एक 'रिलीफ-पार्टी' आई और हम सब को अपने साथ ले गई। बिपत् के मारे हम लोग मुसलमान बना लिये गये। मैं वहीं नौकर हो गया, और फिर जीवन आनन्द से बीतने लगा। पर भाग्य में तो कुछ और ही लिखा था।

कुछ दिनो बाद मुझे मालूम हुआ कि भाभी का आचरण ठीक नहीं है। और इसी से यह दुर्घटना हुई। भाभी की हत्या के प्रायश्चित् के लिये ही मैं अपना अन्त कर रहा हूँ।

ट्रायल के समय ही मुझे मालूम हो गया था कि आप यहाँ हैं, मैं आप से मिल भी सकता था पर सोचा कि इससे आपको दुःख और वेदना होगी।

मैं प्रसन्न हूँ पर जिसको (भाभी) आप मुझे सौंप कर बाहर गये थे उसके आचरण का दुःख अवश्य है।

कभी याद कर लीजियेगा।

क्षमा-प्रार्थी,

सदैव के लिये विदा

नेमू

पत्र पढ़ते ही राजू सन्न हो गया। उसका हृदय ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा। उसने कभी स्वप्न में भी विचार न किया था कि अभागा यूसुफ उसका छोटा भाई नेमू होगा। लम्बी दाढ़ी वाले उस यूसुफ के चेहरे में अब उसने नेमू की प्रति-मूर्त्ति देखी। वह सोच रहा था.....अकेले मुझको एक सहारा मिला था पर वह भी मैंने जान बूझ कर छोड़ दिया। नेमू, मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। तुमने उचित ही किया। मुझे होने वाली ग्लानि और वेदना का तुमने अपनी दुष्टा कलंकिनी भाभी की हत्या कर के अन्त कर दिया। मुझे उसके जाने का कुछ दुःख नहीं है। पर तुम्हें पा कर भी मैं तुमसे कुछ बात न कर सका यही मुझे खाये जाता है।..... अब तक मैं केवल इसी दुर्बल आशा पर जीवित था कि शायद तुम लोगों से कभी, कहीं, मिलन हो जाय। पर अब सब व्यर्थ है। पहिले मुझे मालूम न था, पर अब मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि मेरी दुनियाँ खतम हो गई.....।

यूसुफ.....नेमू.....फांसी.....यही राजू के सर में घूमता रहा।

❀ ❀ ❀

रात बीत रही थी, भोर होने को था।

टन ! टन !! टन !!!

जेल का अंधकारमय नीरव वातावरण प्रतिध्वनित हो उठा। अभी घंटे की प्रतिध्वनि शान्त भी न होने पाई थी कि धांय ! धांय !! के कठोर शब्द से शान्त-प्राय वातावरण पुनः प्रकम्पित हो उठा—और फिर शब्दों की गूँज नीरव आकाश में धीरे धीरे विलीन हो गई। जेल का अन्धकारमय वातावरण फिर शान्त हो गया।

रात बीती जा रही थी, भोर समीप था। राजू संतरी का मृत शरीर फांसी वाले क़ैदी की कोठरी के सामने पड़ा था और पास ही एक काग़ज़ था।

स्वाभिमान

कई पीढ़ियों से चौधरी घराने की ही जमींदारी में वह गाँव रहता आया है। पर रमीन्द्र बाबू के समय की सी दशा उसकी कभी नहीं रही। क्या घर, और क्या बाहर, सभी उनके उग्र और क्रूर स्वभाव की ज्वाला से थर्राते से रहते थे।

मानू उनके छोटे लड़के का नाम था। बीस-बाइस साल की वयस, हृष्ट-पुष्ट शरीर, कान्तिमान आकृति। उसके हृदय में मानव प्रेम की उत्कट भावना उथल पुथल सा मचाये रहती थी। ज़रा सा दुख देख वह दयार्द्र हो सिहर उठता था। इतना दुःख और संताप छितरा हुआ है, चारो ओर, इस सुहावने संसार में उसे आश्चर्य और विस्मय होता था।

बूढ़े चौधरी को उसकी मनोवृत्ति से आशंका थी। उनको यह बरदाश्त न था कि कोई, चाहे वह कितना ही निकट आत्मीय क्यों न हो, उनसे अलग चले। अपनी अलग राय रखे। अपनी मनमानी करे। बड़ा लड़का संतोष उनके मन का था। बाप की निर्दयता और क्रूर व्यवहार में उसे कुछ अस्वाभाविक न लगता था। पर मानू के हृदय में ये सब तीर सा लगता था। निरंतर विद्रोह की ज्वाला में वह जलता सा रहता।

❀ ❀ ❀

"घोषाल दादा ! घोषाल दादा !!" मानू ने एक टूटी सी झोपड़ी के द्वार पर जाकर धीरे से आवाज़ दी।

"कौन है रश्मि ? देख तो" कांपते हुए स्वर से झोपड़ी बोल उठी।

"देखूँ !" चकित सी रश्मि बाहर आई।

"आप !!" वह लौट पड़ी।

"आऊँ ?" वह पीछे हो लिया।

टिमटिमाते हुए धुंधले प्रकाश में बूढ़े घोषाल ने मानू को देखा। उसके आंसू बह चले। कंठ रूद्ध हो गया।

"आओ मेरे भगवान, दया के अवतार....." उसने मुँह फेर लिया। रश्मि गठरी सी बनी अपने आंसू रोकने का व्यर्थ प्रयत्न कर रही थी।

"क्या हुआ घोषाल दादा ?" मानू ने गंभीर स्वर से पूँछा।

पर वह अचेत था। रश्मि घबरा गई। मानू ने संयत होकर पूछा" क्या हुआ रश्मि ?"

उसने मुश्किल से कंठ खोला, "वही लगान। दो दफे ले चुके। आज फिर बुला कर माँगा; हमारे पास क्या है; पिछली दफे आपने कृपा की तो दुबारा दे दिया, नहीं तो हमारी क्या बिसात थी उस दफे। पर अब की आप दूसरे गाँव गये थे, दादा ने साफ-साफ कहकर विनय की पर यह दशा.....।" वह ज्यादा न कह सकी। दोनों हाथों से मुँह ढक चुप हो रही।

मानू चकित सा, दुःखित बैठा रहा।

बूढ़े घोषाल ने करवट बदली। टूटी चारपाई चरमरा उठी। चौंककर मानू ने पुकारा—"घोषाल दादा ?"

उसकी आवाज धीमी पड़ रही थी। कष्ट से बोला—"दयालू सरकार, आप कितने भले हैं; अब मैं जा रहा हूँ। रश्मि का कहीं ठिकाना लगवा दीजियेगा....।" उसने क्षीण नेत्रों में उत्सुकता भर कर प्रश्नभरी दृष्टि मानू पर डाली।

"मैं रश्मि से ब्याह करूँगा, घबराओ मत, घोषाल दादा" वह गंभीर था।

"सच! सच!! दयालु, मेरे सरकार!!" उसकी बुझती हुई आँखें एक बार चमक उठीं। "आ, बिटिया, रश्मि, तेरे बड़े भाग्य हैं, सरकार खुद....." उसने काँपते हुए हाथों से दोनों का हाथ मिलवा दिया।

रश्मि पछाड़ खाकर गिर गई।

❀ ❀ ❀

दादा। आपने घोषाल की हत्या क्यों की?" क्षुब्ध मानू ने चौपाल में बैठे चौधरी से पूछने का साहस किया।

"चुप छोकरे, बहुत बढ़कर मत बोला कर, बड़ी दया की मूर्ति बना है।" वह क्रोध से काँप रहे थे। सब चकित होकर मानू को देखने लगे।

"आपने उस पर अन्याय किया, घोर अन्याय।" उसने वैसे ही संयत स्वर से कहा।

"बन्द कर बकवाद, मूर्ख।" उनके तमाचे से मानू बैठ गया। सब दुःशंका से सहम उठे। मानू वैसा ही गंभीर था।

"मैं यह सब नहीं सह सकता, देख सकता, अन्याय, आज कुछ निर्णय....."

"निकाल दो इस कंगाल को घर से बाहर, बेहूदा, नालायक....." बूढ़े चौधरी क्रोध से काँपने लगे, "जा,

उन्हीं कंगालों में रह, मुझे अब मुँह मत दिखाना।" उन्होंने मानू को दरवाजे से बाहर ढकेलते हुए कहा।

"जाता हूँ; कभी मुँह न दिखाऊँगा; मैंने घोषाल की लड़की रश्मि से ब्याह कर लिया है।" वह वैसे ही गंभीर स्वर में बोला।

"निकल नीच! कुल कलंकी!!" बूढ़े चौधरी आपे से बाहर हो गए।

सब स्तब्ध थे। मानू तीर की तरह बाहर निकल गया।

दस बारह साल बीत गये। बूढ़े चौधरी ने कभी मानू की बात न की और न मानू ही उस गाँव में उस दिन के बाद कभी आया।

मृत्यु पर पड़े बूढ़े चौधरी ने कहा—"संतोष, मानू को बुलाओ, मैंने उसके साथ अन्याय किया है, भोला बच्चा" उनके आँसू बह रहे थे।

"अच्छा दादा।" संतोष दूसरे गाँव को दौड़ा। "मानू! मानू!! दादा ने बुलाया है चलो।" खेत में काम करते हुए मानू ने चौंककर देखा।

"चलो मानू, दादा बीमार हैं उन्होंने बुलाया है।"

मानू चुप रहा। उसके मुख पर वही गंभीरता, वही संतोष था।

"बोलते क्यों नहीं?" संतोष ने पूछा।

मानू सिर झुकाये चुप रहा।

"क्या नहीं चलोगे?" उसने कर्कश स्वर में पूछा—

"नहीं।" शांत स्वर में मानू बोला—

"ओ हो! इतनी ऐंठ।" संतोष चला गया।

"नहीं आता दादा।" वह तेज आवाज में बोला—

"नहीं आया ?" चौधरी के स्वर में करुणा थी।" आधी संपत्ति उसको देना, संतोष।"

❀ ❀ ❀

प्रांत भर में घोर अकाल पड़ा था। हरी-भरी प्रकृति नष्ट होने लगी। गाँवों में गीदड़ और गिद्ध मड़राने लगे। घर पे घर उजड़ रहे थे। मनुष्य पत्तियाँ और वृक्षों की छाल खाने के बाद अपनी ही जाति पर टूटने लगे। गाँव के गाँव उजड़ते गये। रोज हजारों प्राणी काल के ग्रास होने लगे। निर्बल मातायें बच्चों को दम तोड़ते देखती थीं पर अपने अस्थिपंजर से क्या करतीं।

निर्बल मानू अपनी झोपड़ी में पड़ा था। आज पाँच छै दिन से उन्हें अन्न से भेंट न हुई थी। सूखी-सी रश्मि अपने दस साल के बच्चे के अस्थिपंजर के पास बैठी हुई आँसू गिरा रही थी। पता नहीं सूखे शरीर में आँसू कहाँ से आए।

"संतोष दादा आये थे, कहते थे चौधरी दादा आधी संपत्ति तुम्हें दे गए हैं; ले क्यों नहीं लेते, निखिल की हालत तो देखो, सूख.....।"

मानू ने गंभीर पर निर्बल स्वर में कहा—"उसकी चर्चा न करो, क्या अपने बूढ़े पिता के खून से सने धन को लेना पसंद करोगी ?"

उसकी निर्बल आँखें रश्मि के चेहरे पर गड़ गईं। रश्मि ने सिर झुका लिया। कुछ बोलने का साहस न हुआ। मानू ने मुँह फेर लिया।

❀ ❀ ❀

अब सिर्फ़ निखिल और मानू थे। रश्मि की लाश झोपड़ी के बाहर पड़ी सड़ने लगी।

मानू को संतोष था। अपने कर्तव्य से विचलित न होने पर उसे गर्व था। इस दशा में भी वह शांति का अनुभव कर रहा था।

मानू कराह रहा था। निखिल अचेत पड़ा था। श्मशान जैसे गाँव को पार करके झोपड़ी में घुसकर संतोष ने देखा।

"मानू घर चलो।" उसके आँसू ढुलक पड़े। वह चुप रहा।

"यह खाना है, बेटे निखिल।" उसने काँपते हाथों से निखिल के अस्थिपंजर को उठाया। क्षीण-सा हाथ खाने की ओर बढ़ा। पता नहीं मानू के कहाँ से बल आ गया, "मेरे बच्चे को अपवित्र मत करो।" एक ठोकर से सारा खाना भूमि पर लुढ़क पड़ा। ठोकर खाकर निखिल के रहे सहे प्राण भी उसे छोड़ गए। पर मानू शांत था।

"तुम्ह ऐसे आत्महत्या नहीं कर सकते, मानू भइया।" संतोष ने बाहर जाते हुए 'मानू' को रोकना चाहा। पर मानू का अस्थिपंजर न जाने कैसे तेज़ी से बाहर हो गया।

"मानू! मानू!!" संतोष चिल्लाया। ठोकर खाकर मानू गिर पड़ा। न जाने कहाँ छिपे हुए गिद्ध और सियार उस दम तोड़ते हुए कंकाल को नोचने लगे।

ग़रीब की दुनियाँ

ग़रीबों का भी कोई जीवन है। जिसने चाहा दो ठोकरें लगा दीं, जैसे ठोकर खाने के लिए ही वे बने हों। थोड़े से चाँदी के टुकड़ों पर जान देने वाले, ख़ून-पसीना एक कर देने वालों को क्या कोई मनुष्य कहेगा? जानवर से भी बदतर, उनका जीवन है। लोग समझते हैं कि उनके हृदय ही नहीं होता, जैसे काठ या पत्थर के बने हों। रोते हैं, कलपते हैं, तो समझा जाता है कि आँखों में मिर्चें लगा ली हैं। क्या पत्थर और मिट्टी के टुकड़े भी कहीं रो सकते हैं? उनका जीवन दूसरों के लिए है। अपना जीवन तभी तक है जब तक वे दूसरों के लिए जियें। उनका घरबार बाल-बच्चे सब ढोंग है। हुँ। कहीं उनके भी घर बार या बाल-बच्चे हो सकते हैं।

❀ ❀ ❀

त्योहार आया, और, छुट्टी मिल जाय सरकार। तुझे क्या मुँह देखने को रक्खा है। आज दिवाली है, कितना काम पड़ा है और इन्हें छुट्टी मिल जाय—जा काम कर।

पर सरकार मेरे बाल-बच्चे भी तो त्योहार.....बकबक बन्द कर। बड़ा त्योहार का बच्चा बना है। बड़े लाट साहब हैं न। त्योहार मनायेंगे। त्योहार.....त्योहार.....।

और वह ख़ून का घूँट पीकर रह गया। ठीक तो है, काम नहीं करेगा तो खायेगा क्या। कमसिन बीवी—फूल-सा बच्चा। इन्हें भी तो पालना है। त्योहार तो फिर आ जायगा।

❀ ❀ ❀

चारों ओर दिये जल रहे थे। सबों ने अपने-अपने हौसले निकाले थे, अपनी-अपनी बिसात भर। किसी ने पाँच तो किसी ने पाँच हज़ार। ग़रीबों के मुहल्ले में जहाँ लोग समझते थे कि जानवर रहते हैं, कहीं एक और कहीं दो दिये टिमटिमा रहे थे। उनके लिये दिवाली थोड़े ही थी। उनके जीवन का तो केवल एक ही ध्येय है—घुल-घुलकर मरना।

एक टूटी-फूटी झोपड़ी का सजीव अंश सोच रहा था। अभी आये नहीं। आज तो जल्दी आने को कहा था। आज त्योहार है। आख़िर हम भी तो आदमी हैं। वैसा ही शरीर, आँख, कान, नाक, सब तो वैसी ही हैं। वैसा ही हृदय, वैसा ही ज़ोर, फिर इतना अन्तर क्यों है? हम ग़रीब हैं तो क्या, ग़रीब के जान नहीं होती, क्या उसके अरमान नहीं होते? क्यों वह मनुष्य नहीं है क्या? बच्चा रोते-रोते सो गया····· खिलौना लूँगा····रोशनी·····मेला·····देखूँगा। जैसे-तैसे सुलाया है। पर क्या घर में एक भी दिया न जलेगा। दिवाली अँधेरे से मनाई जायगी·····।

क्या अभी जाग रही हो?

जल्दी आने को थे, न?

हाँ! पर कल पेट कैसे भरता·····सो गया? अच्छा ही हुआ। तू भी सो जा।

क्या दिया भी न जलाओगे?

अरे पगली! सो जा। दिवाली तो अमीरों का त्योहार है। हम लोग तो ग़रीब हैं।

बाबू मेरी औरत मर गई·····छुट्टी·····

चुप! हरामज़ादे कैसे-कैसे बहाने निकालते हैं। काम

में तो जी नहीं लगता। आज औरत मर गई तो कल औरत के बच्चा हुआ है। छुट्टी···छुट्टी। महीना खतम होते ही हाथ फैला देंगे। बाबूजी तलब। बच्चे भूखों मर रहे हैं। घर पर दाना नहीं है। और हरामखोरी से बाज नहीं आते। जैसे इनके बाप के लिए कमाकर रक्खा हो।

पर बाबू मुझे जाना ही होगा·····मेरी औरत मरी पड़ी है·····बच्चा रो रहा है। बाबूजी! रुँधे हुए गले ने उसकी आवाज़ दबोच ली। आँसुओं ने आँखों की रोशनी धुँधली कर दी।

जा शाम को आ जाना। मैं सब समझता हूँ।

❀ ❀ ❀

लाश को पानी में बहा दिया। जलाने को पैसे कहाँ थे।

कहती थी फलाने को चंदन की लकड़ी में रख कर फेंका गया था। अरे तूने यह सब क्यूँ सोचा। ग़रीबों की दुनियाँ ही दूसरी है। हमें जलाने को लकड़ी कहाँ मुयस्सर और फिर चन्दन की। राम राम, घर में चूल्हा तो जलता नहीं, मुर्दे को जलाने को लकड़ी कहाँ से आए। फूल सी देह, कितने अरमानों के साथ बुझ गई। हाय मैं उसे थोड़ा सुख भी न दे सका·····।

अरे ओ! मालिक बिगड़ रहे हैं। काम पर क्यों नहीं चलता?

चलो भइया! आता हूँ।

·····ओफ़ रोने को भी समय नहीं। काम·····काम। ठीक तो है। हम ग़रीबों के हृदय कहाँ। शोक तो वे मनायें जिनके हृदय है। ग़रीब भी कहीं शोक मनाते हैं? फिर यह बच्चा जो है, कैसे जियेगा। नन्हीं-सी जान। काम तो करना ही है। कल का दिन जो आनेवाला है।

नमस्ते

आज कई दिनों के बाद मैं कोशिश करने बैठा कि सब भूलकर यह अनुभव करूँ कि मेरे जीवन में कोई घटना ही नहीं है और वह वैसे ही बीतता जा रहा है जैसा कुछ दिन पहले तक था। पर जिस घटना से, मुझे भय है कि, मेरे जीवन की गति को सबसे बड़ा धक्का लगा है उसे एक दम से भुलाना क्या सम्भव है? अब तो अतीत की मधुर स्मृतियाँ मेरे नीरस आगामी जीवन का एक बहुत ही प्रमुख अंश बनेंगी, क्योंकि अभाव में ही स्मृतियाँ दुर्बल तथा भावुक मनुष्य के हृदय को दबाती हैं और उसको अधिक कष्ट पहुँचाती हैं। सोच ही रहा था कि मीनाक्षी तो मेरे जीवन का एक अंश थी और अब तक का समय इतना मीनाक्षीमय रहा है कि उसे कैसे भुलाया जायगा, कि नन्हीं माला आया की गोद से चिल्ला उठी—

बाबूजी नमस्ते!

मेरे एक धक्का-सा लगा क्योंकि 'नमस्ते' ने मुझे फिर उसी में ला पटका जिससे मैं भागना चाहता था। सारा अतीत आँखों के आगे नाचने लगा और मैंने माला को खींचकर सीने से लगा लिया। बेचारी अबोध बच्ची, अब मैं उसे कैसे समझाऊँ कि मीनाक्षी, उसकी माँ, अब उसे इस जीवन में कभी नहीं मिलेगी।

❀ ❀ ❀

कोई छुट्टी थी। लम्बी ही रही होगी, इसीलिए मैं घर आ रहा था वैसे तो दिन ही दिन गाड़ी का सफर तै हो सकता था, पर उन दिनों, और अब भी, मुझे रात का सफर पसंद है कारण ठीक तो नहीं बता सकता पर अवश्य ही लड़कपन रहा होगा। और ठीक है उन दिनों खून नया रहता है और दिल उमंगों से भरा हुआ। जवानी का जोश और आगामी जीवन का विचित्र स्वप्नित्व चित्र ही दिमाग में भरा रहता है। मैं इससे बरी न था। मेरे जीवन में बहुत-सी ऐसी घटनाएँ हुई थीं जिन्होंने मुझ पर कुछ असर डाला। पर उनमें से कोई ऐसी न थी जो ज्यादा दिनों तक टिक सकती। थोड़े-ज्यादा दिनों तक रह रहकर आनेवालियों के लिए जगह छोड़ती जाती थीं। सांसारिक पचड़ों और जीवन की गूढ़ समस्यायें ध्यान से कोसों दूर थीं। 'रोमांस' ही सब कुछ था। जैसे जीवन का ध्येय हो।

मैं बैठ तो गया पर बेचैन था कि मेरे कम्पार्टमेन्ट में मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं है। अकेलापन और रेल में, मुझे बहुत ही बुरा लगता था। यही ख्याल रहता था कि कोई 'रोमांटिक' घटना हो जाती, बस! थोड़ी देर में देखा कि नीली साड़ी में एक युवती गाड़ी की ओर लपक रही है। पीछे कुली के सर पर एक चमड़े का सूटकेश था। जब मेरे डिब्बे के कुछ नजदीक थी तो कुली ने पूँछा—

मेम साहब—सिकिंड

हाँ! सेकेन्ड

और सुनते ही मेरा हृदय उछलने लगा। इतने में कुली ने सामान रक्खा और वह अन्दर आ गई। एक कड़ी निगाह

से मुझे देखा—सिर से पैर तक, और फिर खिड़की से स्टेशन के हंगामें को देखने लगी।

भले-भले लोग भी, मेरे ही कम्पार्टमेन्ट के इर्द-गिर्द ही घूम रहे थे। मैं सब समझता था, और शायद वह लड़की भी समझती हो।

मुझे चौथे स्टेशन पर उतर पड़ना था इस कारण मैं बतावला हो रहा था कि उससे शीघ्र परिचय हो जाय। वह चोरी-चोरी मुझे देखती थी। मैं सिगरेट में ऐसा मशगूल था कि जैसे उसकी परवाह ही न हो। पर अन्दर और बाहर कितना अंतर था मैं ही देख सकता था। इतने में आँधी का-सा एक झोंका आया और बेंच पर रक्खा हुआ रूमाल उड़कर मेरी गोद में आ गिरा। वह अपनी उड़ती-पड़ती साड़ी को सम्हालने में व्यस्त थी, उधर ध्यान ही न गया। इधर मैंने आँखों पर गिरे हुए बालों को उँगलियों से ठीक किया और पलक मारते ही रूमाल मुट्ठी में दबोच लिया।

फिर मैंने कहा—खिड़कियाँ बन्द कर दीजिये, आंधी ज़ोर की है।

उन्होंने दो एक बार प्रयत्न किया पर खिड़की न उठी। मैंने कहा—

अगर आपत्ति न हो तो मैं बन्द कर दूँ, नहीं तो कम्पार्टमेन्ट धूल से भर जायगा।

वह कुछ बोली नहीं। कुछ बोलने को थीं कि मैं खिड़कियाँ उठाने लगा।

अब ठीक है, आराम से बैठिये—मैंने कहा।

धन्यवाद—उन्होंने धीरे से कहा।

आप क्या कहीं दूर तक जायेंगी?

नहीं·····जा रही हूँ।

·····क्या पढ़ती हैं ?

जी हाँ।

यूनिवर्सिटी में ?

जी नहीं,·····कालेज में।

और आप·····उसने सकुचाते हुये पूँछा।

मैं यूनीवर्सिटी में पढ़ता हूँ।

किस इयर में—मैंने पूँछा।

फर्स्ट इयर—एफ० ए०।

आप·····वह काफी सकुचा रही थी।

मैं एम० ए० फाइनल में हूँ।

अच्छा !!

तब तक गाड़ी·····स्टेशन पर रुकी। मैंने खिड़कियाँ गिरा दीं। आंधी हलकी हवा में बदल चुकी थी। आसमान पर काले बादल घिरने लगे थे। मैं उसी की सीट पर बैठा हुआ था। तभी एक बूढ़े फ़कीर ने घिघिया कर माँगा—

दूधों, पूतों फलो, रानी साहब·····राज बना रहे·····

जोड़ा सलामत रहे·····मालिक राजा साहब की बढ़ती करे·····

मैंने कनखियों से देखा उनके कर्णमूल लाल हो उठे थे। मैंने कहा—आगे बढ़ो बाबा !

जोड़ा सलामत रहे·····रानी साहब का सुहाग·····

मैंने एक इकन्नी निकाल कर दे दी। बुड्ढा दुआयें देता हुआ आगे बढ़ता गया।

बड़े चिपकने वाले होते हैं, ये भिखमंगे—मैंने मुस्कराते हुये उनकी ओर देखा—

उनकी आँखें झुक गईं। गोरे चेहरे पर हलका गुलाबी-पन दौड़ गया—

जी·····बड़े ज़िद्दी होते हैं।

और तभी झटके से गाड़ी चल पड़ी। मैं फकीर की बातें सोच रहा था। उसने हम दोनों को पति-पत्नी समझा। असम्भव तो है नहीं। हो भी सकता है। ओह! कितनी रोमांटिक शादी होगी·····मैं सोच रहा था कि जैसे सचमुच ही पति-पत्नी हों और ट्रेन संसार-चक्र के समान हम दोनों को अनन्त की ओर लिए अग्रसर हो रही हो, जैसा संसार का नियम है। मैं उसकी ओर भी कनखियों से देख लेता था। वह भी कुछ सोच रही थी···शायद उसी बुड्ढे भिखारी की भूल पर हँस रही हो।

एकाएक वह कुछ ढूँढ़ने लगीं।

कुछ खो गया है?—मैंने पूँछा।

नहीं! कुछ नहीं—पर उसकी आँखें सीट के ऊपर-नीचे कुछ खोज ज़रूर रही थीं। मैं समझ गया। रूमाल ही होगा।

मैं फिर घने अंधकार में देखने लगा····अगर यह सुन्दरी मेरी पत्नी हो जाती··· अगर बूढ़े की बात सही हो जाय··· मेरे शरीर में सिहरन हो उठी। मैंने घूम कर देखा। वह टकटकी लगाये मेरी ओर देख रही थी। आँखें मिलीं और पल भर में पलकों ने झुककर मिलन में बाधा डाल दी और उसका चेहरा ऐसे लाल हो उठा जैसे कोई चोर चोरी करते हुए पकड़ गया हो।

तभी मेरा स्टेशन आ गया और मैं जैसे चौंक पड़ा। इस अकस्मात विच्छेद से मुझे हलका-सा दुःख हुआ। तब तक कुली सामान उतार चुका था।

भूलियेगा नहीं·····लौटने पर देखिए शायद फिर मुलाकात हो।

जरूर—उसने धीरे से कहा—

मैं उतरने लगा। उसने सकुचाते हुए मेरी आँखों में देखते हुए कहा—नमस्ते।

नमस्ते—

और मैं कुली के पीछे चल दिया।

आगे बिजली की रोशनी में जेब से रूमाल निकालकर देखा। एक कोने पर कढ़ा हुआ था—"मीना माथुर।" माथुर? मुझे बड़ी खुशी हुई।

❀ ❀ ❀

रूमाल लाकर बक्स में डाल दिया, और थोड़े दिनों तक इस घटना ने मुझे काफी अशान्त रक्खा। घर वाले कहते थे, राजेन अबकी इतना सुस्त-सुस्त-सा क्यों है। अम्मा कहतीं सूखकर काँटा हो गया है, पढ़ाई भी अच्छी खासी बला है। पर मुझे यह सहानुभूति अच्छी न लगती। सोचता, अगर मीना मिल जाती तो क्या आज ही 'हाँ' कर देता? अम्मा, भाभी, सभी जान खाये हैं, पर मैं उनसे कैसे कहूँ कि मुझे मीना, केवल मीना ही चाहिए।

पर धीरे-धीरे मीना की घटना भी पुरानी हो चली। हलचल मचाकर शान्त होने लगी, जैसा होता आया है। मैं और बातों में उलझने लगा। रूमाल बक्स में पड़ा रहा। छुट्टी खतम हो रही थी। एक दिन भाभी ने आकर कहा—

राजेन बाबू—मिठाई खिलाओ तो एक बात बताऊँ।

जानता हूँ! वही शादी का पचड़ा होगा, मुझे बख्शो—मैं उपेक्षा से बोला—

अच्छा !! महात्मा जी फिर न कहियेगा कि मुझे क्यों नहीं दिखाया, कहकर भाभी जाने को उठीं।

भाभी ! मैंने कहा, दिखा दो, शाम को सिनेमा—अच्छा अब आप जा सकती हैं—मैंने मुँह फेर लिया।

ओ हो ! धमकी !! अच्छा मैं जाती हूँ।

अच्छा दिखाओ भाभी—मुझे शर्त मंजूर है—मैंने हँस कर कहा—

एक फोटो दिखाकर बोलीं—अब करो इनकार, देखो कितनी सुन्दर है। लखनऊ ही में पढ़ती है·····कालेज में, एफ० ए० में। और नाम देखो—तसवीर के ऊपर पड़े नाम पर उँगली रखकर भाभी बोलीं—"मीनाक्षी माथुर।" मैं खुशी से उछल पड़ा। तो बुड्ढे की बात सही हो रही है। मेरे आँखों के आगे सारा दृश्य नाच गया। भाभी चली गईं। मैंने वक्स से रूमाल निकाल कर चूम लिया।

❀ ❀ ❀

घर में खुशियाँ मनाई जा रही थीं। मेरी बहू घर में आई थी। अम्मा बहुत व्यस्त थीं। पिताजी ड्राइंग रूम में मित्रों से हँसी-ठट्ठा कर रहे थे। भाभी और स्त्रियों की खातिर में थीं। मीनाक्षी नई बहू की लज्जा से रंजित बाजे पर कुछ गुनगुना रही थी। सारी स्त्रियाँ उसे घेरे बैठी थीं। भइया बाजार गए हुए थे और सुकेशी और कुँवर प्लेटों में मिठाई भर-भरकर उड़ा रहे थे। बगल के कमरे में बैठा मैं सिगरट सुलगाये सारी घटना पर विचार कर रहा था। हृदय स्फूर्ति और उमंग से भरा हुआ था।

आज मुलाक़ात है, राजेन बाबू—तैयार हैं न ? भाभी ने शान्ति भंग करते हुए कहा—

माफ़ करिए महारानीजी, क्यों परेशान करती हैं। मैंने ज़रा शर्माते हुए कहा—

ओ हो !

भाभी चली गईं। मैं रूमाल से उलझा रहा।

रात को भाभी जब मुझे कमरे में ढकेल कर 'गुडनाइट' कहकर दरवाज़ा बन्द करके चली गईं तो मैंने चारों ओर देखा। मुझे बहुत अजीब-सा लग रहा था। हृदय में एक विचित्र धड़कन और हिचकिचाहट थी। सामने पलँग पर मीनाक्षी मुँह फेरे बैठी हुई थी। मैंने मज़ाक में कहा—

नमस्ते।

वह कुछ नहीं बोलीं—

मैंने फिर कहा—देवीजी, नमस्ते !

उन्होंने हाथ जोड़ दिये पर मुँह से कुछ न बोलीं।

मैंने साहस किया—आप तो ऐसी हो रही हैं जैसे पहले कभी मुलाक़ात ही नहीं हुई है। ज़रा मेरी ओर तो देखिए।

उन्होंने शर्म से दबी हुई आँखें ज़रा उठाईं—

क्या ट्रेन और भिखारी की बातें भूल गईं ? इतनी भी बेरुखी क्या, उनका सिर शर्म से झुक गया।

फिर बातें होती रहीं। बीच में मैंने पूछा—

अच्छा उस दिन ट्रेन में आपका क्या खो गया था ?

कुछ नहीं, वह बोलीं।

नहीं, कुछ खोया ज़रूर था, देखिए, मुझसे क्यों छिपाती हैं ?

रूमाल था, और क्या ! उन्होंने धीरे से कहा।

मैंने धीरे से रूमाल बढ़ाकर पूँछा—यह तो नहीं ?

आप बड़े चोर हैं—मीनाक्षी बोली।

तबमैंने आँधीवाली बातसुनाई। सुनकर मीनाक्षी खूब हँसी।

बाहर चाँद पीला पड़ने लगा था और चांदनी को अँधेरे ने दबा लिया था।

❀ ❀ ❀

मेरा छोटा-सा कुनबा बड़े मजे में था। मीनाक्षी ने अपने सरल स्वभाव और स्नेह से मुझे चंगुल में कर लिया। सरकारी नौकरी पाने पर मेरा तबादला हो गया और हम दोनों, एक नई जगह में, एक दूसरे को सुखी बनाने में लीन रहने लगे। समय बड़े मजे में कट रहा था। मैं संसार में अपने को बहुत ही सुखी और भाग्यशाली समझता था।

धीरे-धीरे समय बीतता रहा और छोटी माला हम दोनों के बीच में आ गई। वह जीता-जागता खिलौना थी। मीनाक्षी तो जैसे निहाल हो गई। मेरी अनुपस्थिति में मन बहलाने को उसे एक गुड़िया मिल गई थी।

माला तीन साल की हो गई और हम लोगों को कुछ मालूम ही न हुआ। हँसी-खुशी दिन कट रहे थे। मीनाक्षी ने माला को सिखा दिया था 'नमस्ते' करना और जब मैं सामने पड़ता अपनी तोतली बोली में पुकार उठती—

बाबूजी, नमस्ते, नमस्ते।

मैं प्यार से मीनाक्षी की गोद से उसे छीन लेता।

❀ ❀ ❀

हमारे सुख पर किसी की नजर लग गई, और देखते ही देखते हँसता-खेलता घर वीरान हो गया। मीनाक्षी का बहुत इलाज किया पर वह बची नहीं। अन्तिम दृश्य मुझे ऐसा याद है जैसे आज की घटना हो। मीनाक्षी सूख कर काँटा हो गई थी और बिलकुल पीली पड़ गई थी। एक दिन मुझे पास बुलाकर उसने धीरे से कहा—अब मैं तो जा रही हूँ,

देखिए शोक न मनाइयेगा। किसी दूसरी को मेरी जगह जरूर ले आइयेगा। उसकी आवाज भर्रा गई और हलकी पड़ने लगी।.....पर मेरी माला के लिए आप ही माँ हैं। देखिए उसे मेरा अभाव न मालूम हो। फूल कहीं कुम्हला न जाय, थककर उसने भीगी हुई आँखें बन्द कर लीं।

आने वाली दुर्घटना का विचार कर मेरा कलेजा दहल उठा। सुखी जीवन का अन्त मीनाक्षी जैसी स्त्री—मैं फफक-फफक कर रो उठा।

मीनाक्षी ने आँखें खोलीं। मैंने आँसू पोंछ लिए, कहीं कमजोर दिल को सदमा न पहुँचे। पर वह सब समझ गई। सिसकियों से उसका गला भर गया।

उसी रात दुर्घटना हुई। मेरा भरा-पूरा घर उजड़ गया। जाते समय मीनाक्षी कातर-दृष्टि से देखते हुए बड़े क्षीण स्वर में बोली—नमस्ते! मैं रो उठा। काँपते हुए हाथों से वही रूमाल मेरी ओर बढ़ाया और उसका हाथ खट से खाट पर गिर गया।

बाहर चाँद छुप गया था, और बड़े जोर की आँधी चल रही थी।

❀ ❀ ❀

अब मैं अकेला हूँ और मेरी माला ही मेरी सब कुछ है। जब मैं वह रूमाल निकालता हूँ तो नेत्र भर आते हैं और उसी से मैं आँखें सुखा लेता हूँ। जो आँधी मेरे पास वह रूमाल और उसकी स्वामिनी को लाई थी वही मेरा घर उजाड़ गई। जब मेरी माला तुतला कर कहती है "बाबूजी, नमस्ते।" तो मेरा दिल बैठ जाता है।

कला के लिये

(१)

शेखर रात को देर से लौटा और दबे पाँव कमरे में जाकर उसने कुंडी चढ़ा ली और रोशनी बुझा दी। तभी जाकर मैंने दरवाज़ा खटखटाया। पर कोई उत्तर नहीं। मैंने कहा—अभी तो आये हो क्या इतनी जल्दी सो गए। तब उसने मजबूरन कुंडी गिरा दी और जल्दी से मुझे अंदर खींचकर फिर दरवाज़ा बन्द कर लिया।

नशा उसके ऊपर असर करने लगा था और वह बुत-सा खाट पर पड़ रहा। मैंने फिर पुकारा तो बुदबुदाकर फिर ऊँघ गया। मैंने ज्यादा बोलना ठीक न समझा और पास में पड़ी आराम कुर्सी पर बैठ गया। कमरा धुयें के बादलों और गोलाकार आकृतियों से भर उठा और उसी में डूबा हुआ मैं शेखर के जीवन की प्रगति पर गौर करने लगा। हमारा उसका बचपन से साथ था। स्कूल और कालेज साथ साथ पार करके यूनिवर्सिटी में क़दम रक्खा था। सीधा सा गंभीर शेखर इतनी शराब पीने लगेगा, इसका मुझे स्वप्न में भी गुमान न था। अब वह पीने लगा है। मेरे मना करने पर भी नहीं मानता। वह सुन्दर है, तन्दुरुस्त है और साथ ही साथ एक श्रेष्ट कलाकार है। शराब की बुराइयाँ समझता है, पर फिर भी पीता है। एक स्त्री को भुलाने के लिये पीता है। मैं कहता हूँ अपने को एक स्त्री की क़ैद में डाल लो

तो सब झंझट छूट जायेगा। कहता है, सोचूँगा। वह विवाह क्यों नहीं कर लेता। कल मैं उस पर जोर दूँगा। मेरा बहुत ख्याल करता है। कहना तो माने ही गा।

शराब की तेजी से उसका दिमाग उड़ने लगा और अपने शरीर पर उसके बन्धन ढीले पड़ने लगे। करवट बदल कर वह बकने लगा—

सुगन्धा तुम वेश्या हो, नर्तकी हो·····तुम्हारे यहाँ मैं जाता हूँ एक कला के पुजारी के नाते। मैं तुम्हारी कला से प्रेम करता हूँ पर तुम्हारे बाजारू रूप और चांदी और सोने के टुकड़ों पर बिकने वाले सतीत्व को नहीं अपना सकता··· तुम भी मेरी कला से ही प्रेम करो·····मेरे पीछे पागल मत हो·····मैं अपने को तुम्हारे अर्पण नहीं कर सकता·····पर तुम्हारी कला का पुजारी जीवन पर्यन्त रहूँगा। तुम मुझे पाने की आशा और हठ छोड़ दो, इससे मेरे जीवन में तूफान आने लगा है।·····

मैं चुप चाप कमरे से निकल आया और अपना कमरा बन्द करके रात भर सोचता रहा।

दूसरे दिन मैंने जोर देकर शेखर से कहा कि उसको ब्याह करना पड़ेगा। इस तरह धीरे-धीरे घुल घुल कर उसका सौन्दर्य, स्वास्थ्य और कला सब नष्ट हो जायगी और तब उसे पछताना पड़ेगा। शेखर को मानना पड़ा।

(२)

और चटपट उसका विवाह तै हो गया। सुगन्धा से उसने कहा तो वह पीली पड़ गई, पर कृत्रिम मुस्कराहट लाकर उसने कहा—शेखर बाबू, मैं आपको बधाई देती हूँ, पर मुझे मत भूल जाइयेगा। एक कामना और है, अगर आपत्ति न हो तो कहूँ!

शेखर जैसे सोते से चौंक पड़ा—कहो सुगन्धा ! मैं भी उत्सव मनाऊँगी, उस दिन मैं नाचूँगी। आइयेगा न ?

हाँ ! जरूर आऊँगा।

और वह तेजी से बाहर निकल गया।

(३)

शेखर जब सुगन्धा के यहाँ पहुँचा तो वहाँ सजावट और रोशनी तो थी पर उसके अतिरिक्त और कोई आदमी नहीं था। छम छम करती हुई सुगन्धा निकली और उसका हाथ लेकर मसनद के सहारे बैठा दिया। तभी परदे की आड़ से सारंगी की करुण लहर वातावरण को विड़ोलित करने लगी। तबला शेखर ने ले लिया और सुगन्धा ताल पर थिरकने लगी। आज उसने अपना हृदय निकाल कर रख दिया और शेखर मन्त्र मुग्ध सा तबला बजाता रहा। कोमल सुगन्धित पुष्प हार जब उसके गले को घेर कर पड़ा, तब, जैसे ही उसकी तल्लीनता और तन्द्रा टूटी, चौंक कर पास में बैठी सुगन्धा को उसने ध्यान से देखा ! उसकी मांग में सिंदूर की लाली चमक रही थी और उसकी कोमल नौकुली पतली पतली उँगलियाँ उसके उलझे हुये बालों के छल्लों से खेल रही थीं। शेखर ने धीरे से कहा—सुगन्धा, अब मैं विवाहित हूँ। मेरा ध्यान छोड़ दो।

उसने भी उसी स्वर में कहा—अब मैं भी वेश्या नहीं रही। मेरी माँग में सुहाग लाली नहीं देखते ? पर मैं आपसे विनती करती हूँ, मुझे भूलियेगा नहीं। आप ही मेरे सब कुछ हैं।

वह और कुछ न कह सकी। उसकी आँखों में जल भर आया।

शेखर चकित सा सब देख सुन रहा था। नीचे सड़क पर कोई करुण स्वर में विरहा गा रहा था।

(४)

शेखर ने सुखदा से जी बहलाना चाहा पर वह सुगन्धा को न भूल सका। दिन रात उसी का ध्यान उसके मस्तिष्क पर छाया रहता था। उसने सुगन्धा के यहां जाना छोड़ दिया पर वह उसको मन से न निकाल सका। सुखदा को अपनाना था सुगन्धा से बचने और कला की रक्षा करने के लिये। पर सुगन्धा ही जैसे उसकी कला की आधार हो। उसने अनुभव किया कि आधार हीन कला क्षीण होती जा रही है और वह किसी प्रकार भी बचा नहीं सकता। दिन दिन वह क्षीण होता गया। उसका शरीर और उसकी कला उसके हाथ के बाहर होती जा रही थी। अपने को और अपने दुःख को भूलने के लिये वह मदिरा से चिपका रहा। वह इतना पीने लगा कि उसे होश में रहना पसन्द ही नहीं रहा। सुखदा चिन्तित थी अपने पति की दशा देख कर। उसने शेखर को सुख देना चाहा पर उसे शेखर के प्यार और स्नेह का प्रतिदान कभी न मिला। शेखर अनुभव करता था कि वह अपने साथ ही सुखदा का भी जीवन नष्ट कर रहा है पर वह उसकी ओर खिंच न सका। वह उसे करुणा की दृष्टि से देखता था, पर किसी प्रकार भी उसे सक्रिय न कर सका। वह इतना उदासीन रहने लगा कि सुखदा को भय होने लगा।

(५)

इधर सुगन्धा भी सूखने लगी। नगर की सुविख्यात नर्तकी ने नाचना गाना क्यों छोड़ दिया कोई समझ न

सका। जो भवन सदा पायल और बिछुये की झनकार से सदा मुखरित रहता था वह अब शान्त और गंभीर हो गया। इतना कि जैसे उसमें कोई रहता ही न हो। रसिकों का समूह पास से निकल जाता पर उनका साहस न होता कि उधर जाकर सुगन्धा से बात चीत करें। इस विशाल भवन में अकेली सुगन्धा एक वियोगिनी का जीवन व्यतीत कर रही थी जिसे हलकी सी आशा थी कि उसका परदेशी प्रीतम शायद कभी फिर लौट आये। वह सब भूल कर केवल आशा और प्रतीक्षा के आधार पर ही अपने ही को घुला रही थी।

विक्षिप्त सा शेखर जब कभी आता तो जैसे उसमें जीवन आ जाता। वह हरी हो जाती और अपनी पीले निर्बल शरीर द्वारा घुँघरुओं की सहायता से सारा ढुखड़ा उसके सामने उड़ेल सा देती। ऐसे ही मौकों पर वह निर्जन भव्य भवन मुखरित हो जाया करता था पर फिर शान्त हो जाता तो ऐसा जैसे उसमें कोई वास ही न करता हो।

शेखर कहता—सुगन्धा तुम अनमनी सी क्यों रहती हो। अपनी कला को जान बूझ कर नष्ट कर रही हो। यही तो हमारे तुम्हारे प्रेम का आधार है। उसी के माध्यम को नष्ट कर देना क्या अपने प्रति, मेरे प्रति और, सबसे अधिक, उस 'कला' के प्रति घोर अन्याय नहीं है?

और तब हँसने का उपक्रम करती हुई सुगन्धा कहती—यह आपकी भूल है। मैं तो अपनी कला की रक्षा जी जान से करती हूँ। पर मेरे सिंदूर की लाली देखिये। मैंने इसे समेट लिया है सिर्फ अपनी लाज की रक्षा और अपने प्रीतम को रिझाने के लिये और शेखर चुपचाप और भी अधिक क्षुब्ध हृदय ले कर वहाँ से उठ जाता।

(६)

सुखदा शेखर की दशा के लिये मन ही मन अपने को दोष देने लगी। वह अपने को टटोलती थी पर ऐसी कोई बात उसे न मिलती थी जिससे उसके कारण शेखर को मानसिक कष्ट हो। पर वह नहीं जानती थी कि शेखर भी उसके लिये अपने को दोषी समझता है। वह सुखदा को हर प्रकार से सुखी करने का प्रयत्न करता था पर जिस स्नेह और प्यार के लिये वह तड़पती थी वह उसे न मिल सका। वह समझता था कि शायद सुखदा को रानी सा सुख देकर वह सुखी कर सकेगा। पर नारी के लिये स्नेह रिक्त बाह्य आडंबर का क्या मूल्य। पति का स्नेह ही उसकी अमूल्य निधि है।

सुखदा ने अपने पति के सुख के लिये अपना बलिदान ही उचित समझा। और एक दिन शृङ्गार करके वह सकुचाती हुई शेखर के कमरे में गई। सुरा में डूबा हुआ शेखर धुयें के बादलों से उलझ रहा था। सुखदा ने जाकर थोड़ी देर तक जी भरकर उसे देखा। करुणा से उसका हृदय आंखों से बह निकला। धीरे से शेखर के चरणों पर उसने अपना मस्तक रख दिया और मांग के सेंदुर से उसके चरण लाल हो गये। वह कुछ समझ न सका और हक्का बक्का सुखदा के सजे हुये रूप को निहारता रहा। उसके मुँह से शब्द न निकला पर उसके नेत्रों ने उसकी विवशता और सन्ताप प्रकट कर दिए।

सुखदा हलाहल पीकर शेखर के पास गई थी। शेखर को भारी आघात लगा। कला के लिये एक निर्दोष अबला ने जान दे दी थी और वह उस पाप का भागी था। उसको सुखी बनाने के लिये ही सुखदा ने विषपान किया था पर

उसको नहीं मालूम कि उसने शेखर को और भी अशान्त कर दिया।

इसके बहुत दिन बाद आज शेखर सुगन्धा के घर आया है। व्यविधान हट जाने से अब वह सुगन्धा को आत्मसमर्पण कर देगा और अपनी बढ़ती हुई अशान्ति को रोकेगा।

क्षण सुगन्धा ने शेखर के चरण छू लिये। वह कुछ बोल न सका। और आज शेखर ने सुगन्धा के मुख पर पुरानी आभा और चंचलता देखी। बैठे-बैठे वह सोचता रहा और मना करने पर भी सुगन्धा ने नृत्य का विराट आयोजन किया। मूक सा वह सब देखता रहा। सुगन्धा का शृङ्गार अपूर्व था और उसके मुख का पीलापन उसकी सुन्दरता में अधिक कोमलता का पुट दे रहा था। वह जो कहना चाहता था उसने बहुत संकोच से कहा—

सुगन्धा अब मैं तुम्हारा हूँ। तुम्हारी कला और विशेषतः तुम्हारी जीवन कला ने मुझे परास्त कर दिया। अब मैं तुम्हारे सिंदूर की रक्षा करूँगा।

सुगन्धा मौन रही पर उसके आनन पर सन्तोष और विजय का उल्लास चमक उठा। खुशी से वह थिरकने लगी और सारा भवन आनन्द लहरी से गूँज उठा। वह जी भर के नाची और नाचते नाचते शेखर की गोद में गिर गई।

शेखर ने प्रेम से पुकारा—सुगन्धा वह निर्जीव हो गई थी, पर सुकुमार मुख पर विजय और शान्ति की आभा स्पष्ट थी।

आज-कल

"ये जो आपके पास अक्सर आया करती हैं, क्या आपके विद्यार्थियों में से हैं?" साधना ने साहस बटोर के एक दिन अपने पति से पूँछ ही लिया।

"तुम यह सब क्यों पूँछती हो" लापरवाही से खिड़की के बाहर देखते हुये प्रोफेसर ने कहा।

"यूँ ही, खैर" साधना चुप हो रही।

प्रोफेसर कुछ लज्जित होते हुये ऊबे से बोले, "नहीं, जिनके बारे में तुम पूँछती हो वे.....स्कूल की प्रधान अध्यापिका हैं, मिस सरिता" वे फिर चुप होकर बाहर देखने लगे।

इतने में, बाहर जूते की खटपट सुन कर साधना अन्दर जाने को उठी। उल्लास बाबू ने रोकते हुये कहा, "कहाँ भागती हो साधना, ये लो मिस सरिता आ गईं तुम्हारा परिचय करा दूँ।"

परिचय के बाद सरिता ने कहा—"मैं बहुत दिनों से आपसे मिलना चाहती थी लेकिन आप घर के अन्दर से निकलती ही न थीं क्यों?"

साधना ने कुछ कहना चाहा पर फिर चुप हो रही। उसके चेहरे पर शंका और घृणा के भाव आ-जा रहे थे। थोड़ी देर बैठकर वह उठने लगी—"अन्दर बहुत काम पड़ा है, आज्ञा दीजिए।"

दोनों ने रोका नहीं। वह जल्दी से भीतर चली गई।

❀ ❀ ❀

प्रोफेसर उल्लास की मोटर नगर के बाहर की ओर धीमी रफ्तार से बढ़ी जा रही थी। बगल में मिस सरिता बैठी हुई थीं। निस्तब्धता भंग करती हुई वे बोलीं, "आप की बीबी बहुत ही अजीब मालूम होती हैं प्रोफेसर साहब, न सोसाइटी में निकलना, न किसी से बातचीत करना; ये बातें तो आपके स्वभाव से बहुत विपरीत हैं।"

प्रोफेसर उल्लास चुपचाप मोटर चलाते रहे।

"क्या सोच रहे हैं आप?" मुस्कराकर, स्टियरिंग पर हाथ रखती हुई सरिता ने पूँछा।

"कुछ तो नहीं" हंसने का उपक्रम करते हुए प्रोफेसर साहब बोले। पर उनके बोलने के ढंग से लगता था कि वे किसी गहरी चिन्ता में हैं।

एकाएक मोटर रोकते हुये वे बोले।

"आओ थोड़ी दूर खुली हवा में घूम लें।"

दोनों मोटर छोड़ कर सड़क पर टहलने लगे। निस्तब्धता भंग करते हुये प्रोफेसर साहब बोले," जिसकी बात तुम कर रहीं थीं उसी की बात मैं भी इतनी देर से सोच रहा था। साधना से व्याह करके क्या तुम समझती हो मैं सुखी हूँ। पर क्या करता, मजबूर था। जल्दी शादी करने का यही तो नतीजा है। उस समय तक मेरे अपने कोई निश्चित विचार न थे। माता पिता ने जिसे चाहा गले डाल दिया। सब हंसते हैं। कहते हैं कैसी जंगली औरत घर में डाल रक्खी है। और ठीक भी है। न कहीं सोसाइटी में निकले, न आगंतुकों का उचित स्वागत करे। मैं तो परेशान हूँ। और

देखो, उस दिन तुम्हीं से कितना असभ्य व्यवहार किया। न बोली न चाली! चट उठ कर अन्दर भाग गई। मैं तो समझाते समझाते ऊब गया। पुराने जमाने की औरत। सीता सावित्री को अपना आदर्श माने बैठी है ।"

"तो इतने परेशान क्यूँ हैं, समझा दीजिये, कोई जानवर तो है नहीं, और फिर जानवर भी तो सिखाने पढ़ाने से समझ जाते हैं।" कटाक्ष करती हुई सरिता बोली।

"ठीक है सरिता, पर वह तो जानवर से भी बदतर है, जाहिल, मेरे जीवन की गति में एक रोक सी है।"

थोड़ी देर दोनों चुपचाप चलते रहे। नगर के कोलाहल-पूर्ण वातावरण से बहुत दूर सन्नाटे में उनकी नीरवता और भी मनहूस लगती थी।

"तो आप को कैसी पसन्द हैं?" मुस्कराते हुये, कुछ लजीले स्वर में सरिता ने पूँछा।

"तुम पूँछती हो, सरिता?" उसकी आंखों में घूरते हुये प्रोफेसर उल्लास ने कहा।

वह कुछ शरमा गई।

"चलिये लौट चलें, देर भी हो रही है और आप आज कुछ अस्वस्थ भी हैं।"

❀ ❀ ❀

"जानती हो साधना, तुम्हारे कारण मेरा जीवन कितना नीरस और भार सा हो रहा है, साथी हंसी उड़ाते हैं। सभा सोसाइटी में अजीब सा अनुभव करता हूँ। तुम्हें किस तरह समझाऊं। क्या और स्त्रियां स्त्रियां नहीं हैं। मिस सरिता को ही देखो। कितनी अप-टू-डेट" नम्र और सुसंस्कृत हैं। तुम्हीं क्या भारतीय नारी के आदर्श को

समझती हो जो सीता-सावित्री के पुराने पचड़े और आदर्श की टाँग पकड़े हो।"

सहसा साधना के नेत्र भर आये। पति की मानसिक दशा इधर कई महीनों से बहुत अजीब सी हो रही थी और इससे वह बहुत शंकित और दुःखी थी। प्राण-प्रण से पति की सेवा करने का यही पुरस्कार था। यार दोस्तों के बीच हँसी ठट्ठा किये बिना, सेलिमा थियेटरों तथा पार्टी इत्यादि में निर्लज्जता-पूर्वक घूमे बिना क्या आजकल कोई नारी सुशिक्षित और सुसंस्कृत नहीं रह जाती? क्या आधुनिक नारी आदर्श से इतना गिर गई है?.....उसका हृदय भर आया।

"मैं तो आपकी सेवा हृदय से करती हूँ और करती आई हूँ फिर समझ में नहीं आता आप मुझे इतने निर्लज्ज और भयावह वातावरण में क्यों घसीटना चाहते हैं? हां, माना मैं इतनी सुन्दर नहीं हूँ जितनी आप चाहते हैं, पर इसमें मेरा क्या वश" कह कर साधना आँसू टपकाने लगी।

"ओह! मैं तो परेशान हो गया तुम्हारे जंगलीपन से", कहते हुये प्रोफेसर उल्लास कमरे के बाहर चले गये।

* * *

साधना बीमार पड़ी पर प्रोफेसर उल्लास को कोई विशेष चिन्ता न थी। वे उसकी ओर से कुछ अनमने से रहने लगे थे। जब तब हाल चाल पूँछ लेते, बस,। दवा तो हो ही रही थी। इधर तो यह और उधर उनका और सरिता का परिचय और भी गाढ़ा होता गया। लोग उन पर छींटे भी कसने लगे पर इसकी उन्हें जैसे परवाह ही नहीं थी। एक दिन उल्लास बाबू ने सरिता से कहा।

"जानती हो सरिता, मेरे जीवन की कमी कैसे पूरी होगी ?"

"कैसे ?" उसने इठला कर अनजान बनते हुये पूँछा।

"बस, हम तुम साथ रहें, मुझे जीवन में और कोई आकांक्षा नहीं है।"

"अरे ! तो साधना का क्या होगा ?" मुस्कराती हुई वह बोली।

"पड़ी रहेगी तुम्हारी दासी की तरह। तुम्हारी देखरेख को भी तो कोई चाहिये।"

सरिता चुप रही। पर उसके मुख पर आत्म-समर्पण का भाव प्रत्यक्ष था। कुछ दिनों के बाद 'सिविल-मैरिज' ने दोनों को निकटतर कर दिया। साधना क़रीब-क़रीब अच्छी हो चुकी थी पर इस घटना का उसके जीवन पर एक बहुत ही कठोर आघात लगा। पर उसने सहन किया बहुत शांति और धैर्य से। उसे संतोष था कि उसने अपना कर्तव्य पालन किया है। और आगे भी उसने एक हिन्दू-नारी की भाँति ही जीवन बिताने का निश्चय किया। यद्यपि इस आकस्मिक आघात से उसका हृदय चूर-चूर हो गया था फिर भी वह अपने में अतुल आत्मिक बल का अनुभव कर रही थी।

❀ ❀ ❀

इधर प्रोफ़ेसर उल्लास के जीवन में नई गति आ गई। वे फूले न समाते थे। उन्हें इधर-उधर के निन्दात्मक आक्षेपों की परवाह न थी। अपनी सोसाइटी में उनका सम्मान बढ़ा, पर यही काफी था और यही वह चाहते थे। साधना भी पढ़ी थी, पर सरिता के आगे दासी से अधिक उसकी कोई औक़ात न थी। दिन-रात घूमना-फिरना, आमोद-प्रमोद यही

उनकी दिनचर्या हो गई। यार दोस्तों का जमघट घर पर लगा ही रहता था। सरिता-सी जब खातिर करनेवाली थी फिर यार-दोस्तों की क्या कमी। प्रोफ़ेसर साहब भी इससे बहुत प्रसन्न रहने लगे।

पर ऐसी दशा बहुत समय तक न रही। बराबरी के पद में पारस्परिक हस्तक्षेप सहन करने को कोई भी तैयार नहीं होता। प्रोफ़ेसर उल्लास और सरिता का सम्बन्ध भी ऐसा ही था। सरिता अपने जीवन की गति विधि में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न चाहती थी। शुरू में, कुछ समय तक तो उन दोनों का जीवन बहुत ही सुख और प्रेम से बीता पर धीरे-धीरे उसमें कुछ कमी पड़ने लगी। प्रोफ़ेसर साहब सरिता की इच्छाओं को पूरी करते-करते, मन ही मन, कुछ ऊबने से लगे। ऐसे समय उन्हें सीधी-साधी साधना की याद आती। पर यदि वे ज़रा भी कोमल व्यवहार साधना के प्रति करते तो सरिता क्रोध और ईर्षा से मुँह फुला लेती। अशोक बाबू फिर उसी की ओर ढुलक पड़ते। पर इस प्रकार के मनमुटाव के अवसर कालान्तर में बढ़ते ही गये।

यार-दोस्तों में डाक्टर गुप्ता का आना-जाना बहुत बढ़ गया था। ये प्रोफ़ेसर साहब के दोस्त तो पहले ही से थे पर जब से सरिता ने उनके घर में पैर रक्खा, उनका आना-जाना बहुत बढ़ गया। पहिले तो उल्लास बाबू ने कुछ ध्यान न दिया पर धीरे-धीरे उन्हें डाक्टर की बढ़ती हुई घनिष्ठता से चिढ़ होने लगी। और अधिक शंका तो उन्हें सरिता और डाक्टर की बढ़ती हुई घनिष्ठता से होने लगी। पर न चाहते हुए भी सहना पड़ता था, क्योंकि सरिता ने कुछ ऐसी

मोहिनी डाल रक्खी थी कि वे उसका दिल दुःखाने में अपने को असमर्थ पाते थे।

एक दिन प्रोफेसर साहब की अनुपस्थिति में वह डाक्टर गुप्ता के साथ घूमने-फिरने चली गई और काफी रात बीते लौटी। जब उन्होंने पूँछा कि कहाँ थी तो तनक कर बोली—

"आप मुझसे इस तरह के सवाल क्यों किया करते हैं, क्या मुझे इतनी भी स्वतंत्रता नहीं है कि मैं आपको बिना साथ लिए घर से बाहर न निकलूँ? और अगर आप जरा-जरा-सी बातों में दखल देना बन्द नहीं करेंगे, आप शक करते हैं तो कि [illegible]" कहकर लीला मुँह ढककर बिस्तरे पर पड़ रही और सिसकने लगी। उल्लास बाबू को दुख तो लगा पर मनाना पड़ा।

दो ही तीन छोटे-छोटे झगड़े और दिन होते गये। पर अन्त में किसी-न-किसी प्रकार वे ठीक हो जाते थे। पर अब यह स्पष्ट था कि दोनों एक दूसरे से शंकित थे।

❀ ❀ ❀

एक बार प्रोफेसर इक्कीस दिन बीमार पड़े और उनके सारे शरीर में बेचैन निकल आई। छुट्टे थे ही सरिता कुछ चिन्तित हुई और उसकी कुछ दुरुखा का, पर ज्यों-ज्यों रोग का रूप भयंकर होता गया त्यों-त्यों वह दूर हटती गई। पर सान्त्वना के लिये वह बहुत थी। चिन्ता का विषय हो गया। इन रात वह पति की सेवा में ही लगी रहती। अब और दोस्त भी कम आते। जो आते वे थोड़ा बहुत दुख प्रकट करके लम्बे होते। डाक्टर गुप्ता का इलाज था। पर उनकी दिलचस्पी जितनी सरिता में थी उतनी रोगी में न थी और सरिता तो अब पास भी न फटकती थी। जब कभी उल्लास बाबू पास

बैठने को बुलाते वह कुछ न कुछ बहाना करके दूर ही रहती। कभी 'क्लब' जाना है तो कभी थियेटर और कभी किसी के यहाँ दावत है। कभी यार दोस्त आ जाते और वह उन्हीं की खातिर में लग जाती। इश्तियाक बाबू को इस व्यवहार से हार्दिक दुःख और क्षोभ हुआ। पर वे विवश थे। सब पीते रहे।

इधर इससे विपरीत साधना की व्यग्रता बढ़ती जा रही थी। वह समझती थी कि उसके पति को सरिता के व्यवहार से मानसिक दुःख है और यह उसे चिन्तित किये था। वह अपनी बिलकुल परवाह न करके पति की सेवा में तन मन से लग गई।

एक दिन हालत ज्यादा खराब थी। इश्तियाक बाबू ने सरिता से पास बैठने को कहा। कोई बहाना न मिलने के कारण जाने वह क्या "डाक्टर गुप्ता कहते थे कि बीमारी छूत की है और रोगी के सम्पर्क से फैल जाने का डर है" कह कर वह अपने कमरे में चली गई। प्रोफेसर साहब को स्वप्न में ऐसी क्रूर उपेक्षा की आशंका न थी। उनको सरिता के व्यवहार से गहरा धक्का लगा।

धीरे धीरे उनकी हालत सुधरने लगी। अब वह अपनी भूल और साधना के प्रति कृतघ्नता के लिये लज्जित थे। उनका मन सरिता से बिलकुल फिर गया था और साधना में ही उन्होंने अपने सच्चे जीवन साथी को देखा। कभी कभी साधना के प्रति अपने व्यवहार का ध्यान करके वे रो उठते थे पर वह उन्हें सब प्रकार सान्त्वना देती कि उसे किसी बात का दुःख नहीं है। और न कभी रहा। इससे सान्त्वना न मिल कर उन्हें दुःख ही होता।

अब वह पूर्णतया निरोग हो चुके थे। सरिता का ध्यान भी उन्होंने छोड़ दिया था और वह भी इसे अपना अपमान समझ कर उनसे खिंची खिंची रहने लगी।

एक दिन प्रोफेसर साहब आराम कुर्सी पर लेटे हुये पास में बैठी हुई साधना से बातचीत कर रहे थे।

"साधना तुम्हीं ने मुझे काल के मुंह से बचा लिया नहीं तो मेरी कोई आशा न थी।"

"कैसी बातें करते हैं आप" साधना ने टोक कर कहा, "यह तो मेरा कर्तव्य था।"

"नहीं साधना, मैंने तुम पर बहुत अत्याचार किया है, क्या तुम मुझे क्षमा कर दोगी ?"

"छिः छिः" उल्लास बाबू के मुँह को अपने हाथ से बंद करते हुए साधना बोली, ऐसा मत कहिये मैं आप के पैरों पड़ती हूँ" उसके नेत्र से हर्ष के आंसू बह रहे थे। उल्लास ने उसके आंसू पोंछते हुये उसे अपनी ओर खींच लिया।

इतने में सरिता आ गई। उसका चेहरा तमतमाया हुआ था। "तो अब मुझे दूध की मक्खी की तरह निकाल के फेंक दिया न ?" वह तनक कर बोली।

"जो समझो" शान्त स्वर तथा उपेक्षा से उल्लास बाबू बोले।

"तो अब तलाक....." वह क्रोध से बोली।

"जैसी मर्जी हो" वैसे ही गंभीर स्वर में उन्हों ने उत्तर दिया।

सरिता तीर सी कमरे से बाहर निकल गई

डायरी के पन्ने

.....४३'

अब मैं बदल गई हूँ—बिल्कुल बदल गई हूँ। नहीं, इसे बदलना कहना असंगत होगा। यों कहिए कि मुझे वास्तविकता का ज्ञान हो गया है। मालूम होता है मानो एक लम्बी नींद से चौंककर जाग उठी हूँ, और साथ ही साथ स्वप्न-जगत में कल्पना के समान विचरने वाली मेरी कृत्रिमता भी नष्ट हो गई है। ऐसा लगता है जैसे होश सम्हालते ही मैं एक ऐसी तन्द्रा के वशीभूत हो गई जिसने मुझे वास्तविकता से खींचकर कृत्रिमता की गोद में ढकेल दिया। मैं उसी रंग में रग गई और उसी के साथ बह चली। मैं जानती थी और बराबर अनुभव करती रही कि मेरा आवरण जर्जर है; फिर भी उसे अपनाये रही—अपनी नैसर्गिक मनोवृत्तियों का खून करके भी। मैंने भावनाओं और उद्गारों को दबाया; उन्हें कुचल कर रक्खा, इसलिए कि मैं अपने आवरण को मजबूत बना सकूँ। जानती हुई कि मैं अपनी और दूसरों की भावनाओं से क्रूरतापूर्वक खेल रही हूँ, मैंने यह सब मानना स्वीकार न किया। पर जिसकी नीव ही कमजोर है वह कब तक खड़ा रह सकता है। एक ही झटके में मेरी कृत्रिमता चूर-चूर हो गई। वास्तविकता मुसकराई और मैंने अनुभव किया कि मैं एक नारी हूँ—अबला। पर जिस झटके ने मुझे आकाश

से धरती पर ला पटका, उसने मेरा भी अन्त क्यों न कर दिया। मुझे ये यातनायें झेलने को क्यों छोड़ दिया। ओफ़! मैं शांति चाहती हूँ। अतीत निरंतर मेरे मस्तिष्क में चल-चित्र की भाँति चक्कर लगाया करता है। यदि मेरी विचार-शक्ति नष्ट हो जाती, मेरा मस्तिष्क शून्य हो जाता! मालूम होता है जैसे सारा संसार मेरी खिल्ली उड़ा रहा है! मेरा सिर फट जायेगा। अतीत का घटना चक्र क्या रुकेगा नहीं? ओफ़.....।

❀ ❀ ❀

.....४०'

.....मैं नारी हूँ तो क्या! पुरुषों को आत्म-समर्पण क्यों करूँ। उनमें कौन से सुर्खाब के पर लगे हैं जो उनकी महत्ता स्वीकार की जावे। स्त्री को वे एक खिलौना समझते हैं, जब चाहा खेल लिया; जब चाहा उठाकर किनारे रख दिया। पर मैं तो स्त्री का स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखना चाहती हूँ। मैं उन निर्जीव खिलौना समझने वालों को दिखाना चाहती हूँ कि खिलौना कौन है।

❀ ❀ ❀

.....४०'

जैसे-जैसे मेरा यौवन बढ़ रहा है, पुरुष-जाति के प्रति घृणा भी उसी तेजी से बढ़ रही है। इधर मेरी घृणा बढ़ी और उधर उनके लिए मेरे में आकर्षण। वे मेरी ओर खिंचे आ रहे हैं और मैं दूर हटती जा रही हूँ। उनकी भावनाओं से मखौल करने में मुझे सुख मिलता है, एक विचित्र आनंद आता है।

❀ ❀ ❀

.....४१'

रोज मेरे पीछे साइकिल लगा देता है—आते और जाते। मैं उसका नाम जानती हूँ और लिख भी सकती हूँ। मेरे क्लास में तो पढ़ता है। पर उसका नाम लिखकर उसका सम्मान क्यों करूँ। वह तो 'एक लड़का' ही कहलाने का अधिकारी है। बेशर्म! नीच!!

मैं मुड़-मुड़कर उसे देख लिया करती हूँ, सिर्फ परिहास की गरज से। पर वह अंधा यह न देख सका कि मेरी दृष्टि तिरस्कार और घृणा से भरी हुई है। प्रेम का दम भरनेवाला पुरुष नयनों की भाषा समझने में असमर्थ है। समझता जो होगा कि स्त्री तो इसलिये बनी ही है।

वह समझता है मैं लिफ्ट दे रही हूँ। और प्रकाश्य मैं ऐसा है भी क्यों कि उसकी ओर देखकर मैं कभी-कभी मुस्करा देती हूँ। चिड़िया फँसती देख उसने डोरे डालना शुरू किया है।

साइकिल में हवा निकल जाने के कारण....के दिन मैं पैदल ही गाड़ी लिये विद्यालय जा रही थी। पीछे मुड़कर देखा तो 'वही' बने ठने साइकिल पर चले आ रहे थे। मुझे पैदल देख उतर पड़े, जैसे सच्ची सहानुभूति से प्रेरित हो गये हों।

"क्षमा कीजिएगा। क्या मैं आपकी कुछ मदद कर सकता हूँ....आप कब तक इसे घसीटेंगी, लाइये।"

मैं बोली—"मगर आप दो गाड़ियाँ कैसे ले चलेंगे।"

मैं ·· मैं····"अच्छा हो अगर मैं आपकी गाड़ी पर चलूँ और आप मेरी ठीक करा के उस पर आ जायें।"

"क्यों साहब?"

हाँ, हाँ, बहुत अच्छा ख्याल है।

मगर.....

अच्छा, थैंक्स, मैं चली।

मैंने जानकर उसे काट दिया। थोड़ा लिफ्ट देकर धड़ाम से नीचे गिरा देने में मुझे बड़ा आनन्द आया। मैंने कनखियों से देखा साहबज़ादे का चेहरा लाल हो गया था और पसीने की छोटी-छोटी बूँदें काफी बड़ी हो गई थीं। सिली ...नर्वस .. इसी पर प्रेम करने चले थे। मेरे साथ-साथ चलकर बातें करना चाहते थे और लोगों को दिखाना चाहते थे कि मेरा उनकी ओर कुछ रुझान है। पर नहीं जानते हैं कि पाला मुझसे पड़ा है।

क्लास के बाहर मुझसे बोलना चाहा। वही नर्वसनेस। वही शर्म की लाली। मैं ज़ोर से कड़ककर बोली। चारों ओर के चलते हुए लड़के रुक गये। वह तो ऐसा सहमा जैसे एकाएक बिजली की कड़क से सिहर उठा हो। कितना दम होता है इन कायरों में मुझे ज़रा हँसी आ गई।

आप समझते हैं, मैं आपसे प्रेम करती हूँ। ज़रा अपनी सूरत तो देखिये। आप तो घृणा के भी पात्र नहीं हैं। ख़बरदार यदि फिर ऐसी हरकत की तो .....

वह सिर झुकाये बिजली की तरह वहाँ से चला गया, चारों ओर के लड़के हँस रहे थे, आश्चर्य प्रकट कर रहे थे। कुछ ने जाते हुये उससे व्यंग किया। पर वह रुका नहीं। मैंने विजय गर्व से एक बार चारों ओर देखा और फिर अपने रास्ते पर चल पड़ी।

एक हलकी सी आवाज़ कान के पास से निकल गई, बड़ी तेज़ लड़की है।

❀ ❀ ❀

....४१'

अभी कल ही तो इतना जलील हुआ, और आज फिर क्लास में बैठा मेरी ओर इशारा करके हँस रहा है। बेशर्म। मैं तो समझी थी कि लज्जा के मारे धरती में गड़ जायगा, या कहीं चुल्लू भर पानी में डूब मरेगा। पर वाह रे बेशर्मी। ऐसे बैठा है जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

.....४२'

इसे लिखने में मुझे क्षोभ हो रहा है। ऐसा लगता है जैसे मैंने कोई बहुत बड़ा अपराध किया हो। पर यह तो मेरी कमज़ोरी है। मैं अपने को दोषी क्यों मानूँ। पर भूलूँ भी कैसे। अभी कल ही की तो बात है। ताज़ी।

.....पैलेस में .....तसवीर चल रही थी। मेरे पीछे वाली सीट पर एक सज्जन बैठे थे और बग़ल में उनकी स्त्री। अभी अँधेरा हुआ ही था कि मैंने अनुभव किया कि कोई चीज मेरे बालों को छू गई। मैं घूम कर पीछे बैठे हुए सज्जन पर बरस पड़ी।

आपको लाज नहीं आती एक औरत से इस प्रकार छेड़-छाड़ करते हुए।

पर, माफ़ कीजिएगा, बात क्या हुई ?

बात क्या हुई ! यदि बग़ल में बैठी हुई आपकी स्त्री हैं तो उनका तो लिहाज कीजिए।

क्या..... जी..... मैं इन सम्बोधनों से तैयार थी, पर उधर से कोई उत्तर न आया। मैंने जल्दी में देखा उनका मुख मंडल गम्भीर और क्षुब्ध हो उठा था। उनकी स्त्री की दशा ऐसी थी मानो उसका दम टघु रहा हो, मैं पिक्चर देखने में लग गई।

.....चलिए, मेरा जी पता नहीं कैसा हो रहा है। चलो।

धीरे से वे दोनों बाहर चले गए। मैं आत्मग्लानि से मरी जा रही थी। मैंने अनुभव किया कि मुझसे बहुत बड़ा अपराध हो गया। सांस ज़ोर-ज़ोर से चलने लगी और चक्कर-सा आने लगा। चाहा कि इसे हँसी में उड़ा दूँ, पर मैंने अपराध किया था। घोर अपराध। एक निर्दोष हृदय पर हथौड़ा मारा था। ओफ़! उसे कितनी वेदना हुई होगी। उसका मस्तिष्क कितना क्षुब्ध होगा। और, वह बेचारी औरत कितने अरमानों से भरी आई होगी, और, कितना हाहाकार हृदय में लेकर गई। उसके सामने, और सारी भीड़ के सामने उसके पति को दोष लगाया था—पर, ओफ़! वह निर्दोष था। मैंने वेंडर को अपने बालों पर हाथ लगाते हुए देखा था। मैं उसी पर क्यों न झपट पड़ी। उसके लम्बे बालों को पकड़ कर वहीं पर उसके तमाचे क्यों न लगा दिए। यह मेरी निर्बलता थी। मैंने एक निर्दोष हृदय से विनोद करना चाहा था। आह! कितनी घृणित मनोवृत्ति थी। इन्टरवल के उजाले में अपना मुँह कैसे दिखाऊँगी। मैं अँधेरे में रहना चाहती थी। तीर की तरह बाहर निकल गई।

देखा सामने पान की दूकान पर वही पेन्टर खड़ा हुआ मेरी ओर संकेत करके धीरे-धीरे हँस रहा था। पापी कहाँ का! कायर!!

❀ ❀ ❀

.....'४२

मैं तो रात भर सोचती रही, और रोती रही। नींद

निगोड़ी ने तो जैसे मेरे समीप न आने की क़सम खा ली थी। मेरा जी न जाने क्यों भारी हो गया था। जब तक उनसे क्षमा नहीं माँग लूँगी तब तक मेरा बोझ हलका न होगा। पर उनका पता ही नहीं। तो क्या मैं निरंतर ही इस बोझ से दबी रहूँगी। बेचारी स्त्री! मैंने तुम्हारी आत्मा को कष्ट पहुँचाया है। भरी भीड़ में तुम्हारे सामने तुम्हारे देवता तुल्य पति का अपमान किया है। मुझे क्षमा कर दो। तुम दोनों अपमान को पी क्यूँ गये। वहीं पर प्रतिवाद क्यों न किया। मेरा मुँह क्यों न नोच लिया! यही तो मुझे खाये जा रहा है, हृदय में काँटे-सा चुभ रहा है। दिल का गुबार दिल ही में घुट रहा है। बाहर कैसे निकालें।

❀ ❀ ❀

.....'४३

लिख तो रही हूँ पर कलेजा मुँह को आता है। दम घुट रहा है। पर लिखूँगी ज़रूर। शायद पापी हृदय को इसी से राहत मिले।

लम्बी छुट्टियाँ थीं। पिछला घाव अभी पूरा नहीं था। रह रह कर हृदय में टीस सी उठा करती थी। स्थान परिवर्तन से कदाचित आराम हो।

.....होटेल में ठहरी थी। चारों ओर सजीव प्रकृति हँसा करती थी। बड़ा रमणीक स्थान था—माद्दकता से भरा हुआ। पास में एक झरना था और उसके पार ज़रा ऊँचे पर एक 'काटेज।' डूबते हुये सूर्य की अरुणिमा से दिशायें रंजित थीं। झरने में प्रतिबिम्बित रंग एक दूसरे से टकरा रहे थे। 'बालकेनी' पर खड़ी मैं मनमुग्ध सी सब देख रही थी।

प्रकृति की छवि उसका शृङ्गार धीरे धीरे पिछली बात भूलती जा रही थी। हृदय में एक नई उमंग थी।

टहलते हुये 'काटेज' के समीप पहुँची। बड़ा रमणीक था—छोटा सा—फुलवाड़ी की गोद में' ..... विला' मैंने नाम पढ़ा और आगे बढ़ गई।

कोने पर, एक शिला पर, झरने के किनारे एक युवक बैठा स्केच बनाने में लीन था। मैं पास से निकली। उसने आंखें उठाईं. और मेरी आँखे उससे चार हो गईं। वह फिर कागज पर झुक गया। मैं लौट आई।

रात भर मैं करवट बदलती रही। उसकी बड़ी बड़ी सुन्दर आंखें मेरे हृदय में समा सी गईं थीं। हृष्टपुष्ट शरीर गौर वर्ण जैसे सुन्दरता की प्रतिमूर्ति हो। मैं उसकी ओर खिंची जा रही थी। यह एक विचित्र और नवीन अनुभव था। सोचा यह तो मेरी हार है—पर फिर भी उसे भुला न सकी। स्वप्न में मुझे उसने एक बार फिर वैसे ही देखा। ओफ! उसकी भोली निर्दोष आंखें! हृदय में कुछ विचित्र गुदगुदी और शरीर में सिहरन!

दूसरे दिन फिर उधर से निकली। वैसे ही आंखें लड़ीं। मैंने साहस किया—

क्या आप चित्रकार हैं?

हां ..... नहीं..... कुछ ऐसे ही ..... युवक शान्त हो गया।

क्या आप बाहर से ....।

हां, मैं..... बाहर से कुछ दिनों को आई हूँ। कितना रमणीक है यह प्रदेश!

आप?

हाँ ! मैं भी इस प्रदेश में महमान ही हूँ इस मादक दुकृत का। वो जो ·····'विला' है मेरा ही है।

अच्छा !!

आपका शुभ····· ·····।

मुझे 'प्रकाश' कहते हैं।

और आप ·····।

राज....रानी।

बड़ी खुशी हुई आप से मिल कर।

वह होटल तक मुझे पहुँचा गया।

❀ ❀ ❀

छुट्टियाँ समाप्त होने पर आ गई थीं। मैं प्रकाश के बहुत समीप पहुँच गई थी। बहुत समीप। घंटों बातें होतीं। साथ खाना पीना उठना बैठना। वह एक कुशल चित्रकार था। कहता प्रकृति आकर्षण है, मादकता है पर क्रम नहीं। और मनुष्य की सहायता की आवश्यकता है। चित्रकार प्रकृति की मादकता और आकर्षण को कल्पना और क्रम से रंजित कर अमर कर देता है।

मैंने अनुभव किया कि मेरे बिना प्रकाश एक क्षण को भी स्वस्थ्य नहीं रहता था। उसका जीवन ही बदल गया था। उसमें एक नया ही टर्न आने लगा था।

संध्या की वेला थी। वही शिला। वही प्रकाश और वही मैं। सूरज पश्चिम में मुँह छिपा रहा था। आकाश लाल था। पर आज की लाली सुहावनी न थी। उसमें धधकती हुई चिता का अक्स था। एक अजीब डरावनापन। मेरे ऊपर फिर भूत सवार हुआ। सोचने लगी कि प्रेम करने में तो

मेरे व्यक्तित्व की स्वतंत्रता ही नष्ट हो जायगी मैं इस आत्म-समर्पण से घृणा करती आ रही हूँ और करती रहूँगी। प्रकाश के प्रति मेरा आकर्षण मेरी दुर्बलता है।

तभी प्रकाश ने मेरे हाथ को धीरे से दबा दिया।

क्या सोच रही हो रानी!

कुछ नहीं। मैं अन्दर से उबलने लगी थी।

तुम मेरे जीवन में पूरी तौर से आ गई हो। अब मैं तुमसे अलग जी नहीं सकता, क्यों न हम दोनों साथ-साथ... उसके अधर पर मेरे अधर झुकने लगे। मैं हाथ को झटक कर अलग हो गई।

प्रकाश बस! अब यह ढोंग रहने दो। मैं अपने को बेचना नहीं चाहती। पुरुष कितने कपटी होते हैं। मैं पुरुष-मात्र से घृणा करती हूँ। मैं तुमसे भी घृणा करती हूँ। तुम्हारा प्रेम तो एक क्षणिक उद्वेग है जो मेरे रूप के ढलते ही समाप्त हो जायगा।

प्रकाश चुप हो गया था। बिलकुल मौन-गंभीर। उस समय मेरी जीभ कटकर क्यों न गिर गई। मेरे गले में फाँस क्यों न लग गई। अरे, मैंने यह क्यों न समझा कि उसका कोमल भावुक हृदय चूर-चूर हो गया होगा। कितना बड़ा आघात किया है। मैंने क्षमा क्यों न माँग ली। मेरा मिथ्याभिमान जलकर राख क्यों न हो गया।

❀ ❀ ❀

मैं उठकर होटेल चली आई। रात भर तड़पती रही पश्चाताप और ग्लानि से। अपने हृदय को टटोला। मैं उससे प्रेम करती थी। फिर इस मिथ्याभिमान ने मुझे अंधा

क्यों बना दिया था। मैंने उसे मना क्यों किया? और वह भी इतना क्रूर।

पौ फटते ही मैं विला को चली। मेरा आवरण नष्ट हो चुका था। रात भर मनोवेगों में द्वन्द होता रहा और मेरे में स्थित 'अबला' की विजय हुई। मैंने अपनी भूल की गंभीरता का विचार न किया था। मुझे क्या मालूम था कि मैंने इतनी गहरी ठेस मारी है।

द्वार खुले थे। हृदय धक्-धक् कर रहा था। मैं घुसती चली गई। ओफ़! लिखते हुए हाथ काँपता है। आँसुओं ने पत्र तर कर दिया है और आँखों की ज्योति धुँधली। मेरी आँखें उसी समय फूट क्यों न गईं। हृदय की धड़कन बन्द क्यों न हो गई।

बीच के कमरे में—ओफ़! मैं कैसे लिखूँ—प्रकाश का शरीर एक रस्सी से लटक रहा था। नीला...निर्जीव गोल मेज़ ज़मीन पर लुढ़की पड़ी थी। सारे चित्र—चित्रकार के जीवन भर की कमाई—कूटे और फटे हुये पड़े थे। सारा कमरा अस्तव्यस्त था। पर मेरा चित्र उसकी मेज़ पर रक्खा हँस रहा था। कैसे चाव से बनाया था। रानी अपनी यादगार दोगी? मैंने हँसते-हँसते 'हाँ' कर दिया था। उसने उसी हँसी को कैद कर लिया। मेरे विकृत होनेवाले रूप और योवन को बचा लिया। पर हाय! इसलिये कि...।

मैंने अपना चित्र उठा लिया और उसके पास ही रक्खा हुआ पत्र। मैंने आँखों के सामने अँधेरा अनुभव किया। पैर काँप रहे थे और सारा शरीर निर्जीव सा हो रहा था। मैं खड़ी न रह सकी। तीर सी कमरे के बाहर निकल गई। हृदय में हाहाकार, ग्लानि और विवशता लिये हुये।

❀ ❀ ❀

मैं रोती हूँ और मेरा पुराना चित्र, जो चित्रकार की अंतिम स्मृति है, हँसता है। हँसने दो। शायद मेरी निर्बलता पर हँसता हो। पर मैं तो रोती रहूँगी। जीवन भर जी भर के रोऊँगी। मेरा सुहाग जो छूट गया है। शायद इससे शान्ति मिले। हृदय पर रक्खा हुआ पत्थर शायद इससे पिघल जाये। उसका पत्र ! ओफ !! कितने वेदनापूर्ण शब्द हैं—तुमने मुझे अपनी ओर खींचा और समीप आने में प्रोत्साहन दिया। मैं निर्दोष खिंचता चला आया। पर क्या इतना कठोर आघात सहने के लिये ही था। तुम्हीं निर्णय करना—रानी—विदा—मैं चाहती हूँ ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाकर कहें कि मैंने एक मनुष्य की हत्या की है। पहले उसे फँसाया और फिर निर्भय होकर उसका गला घोट दिया। मेरे पास इसका प्रमाण है। लो देख लो। मैंने जिस-जिस के हृदय को ठेस मारी है जिस-जिस के मनोवेगों से मखौल किया है, मुझे खूब कोसे। इससे मुझे शान्ति मिलती है।

डिलीरियम

दवा मत पिलाओ भाभी !

खाली कलेजे में तीर-सी लगती है। छन-छन जैसे गरम तवे पर पानी पड़ गया हो। नाक से निकल जाती है बेकार क्यों दवा खराब करती हो ?

...अरे ! फिर आँसू बहाने लगीं। नहीं चाहती तो नहीं अच्छा हूँगा, बस। यूँ ही पड़ा-पड़ा एक दिन ऐंठ जाऊँगा। फिर मत कहना कि रो मत। रोने से बुखार बढ़ जाएगा, सिर में दर्द हो जाएगा, खाँसी आ जायेगी। ...नहीं जानतीं भाभी ! तुम रोती हो, तो मेरा हृदय बैठ जाता है, जी भारी हो जाता है। क्यों रोती हो भाभी ! मेरे आराम के लिये, मत रो। मुझे तकलीफ होती है।

हाँ ! अब ठीक है। तुम कितनी अच्छी हो। हँसती हो तो जैसे मेरे ज़िंदगी के दिन बढ़ जाते हैं। हँसा करो भाभी ! मैं अच्छा हो जाऊँगा...।

...डाक्टर कहते थे अच्छा हो रहा हूँ। दवा फ़ायदा कर रही है। थोड़े दिनों की बात है, उठकर खड़ा हो जाऊँगा। फिर वही 'वायलिन' वही 'सितार' वही 'मुरली'। भाभी तुम गाओगी, नाचोगी, और मैं बजाऊँगा। थोड़े दिनों ही की तो बात है। डाक्टर कहते...

भाभी, मेरा जी घबड़ा रहा रहा है, भाभी, तुम मेरे पास ही रहो....

....हाँ ! रजनी को यहाँ मत बुलाना। कैसी सूखकर काँटा हो गई है। हाड़-ही-हाड़ रह गया है। उसे देखकर तकलीफ़ होती है। जब आती है, सिर झुकाए आँसू बहाया करती है....रो-रोकर ढेर लगा देती है।....दरवाजा बंद कर दो, भाभी ! मैं उसे देख नहीं सकता, लगता है जैसे महीनों से बीमार हो। बंद कर दो भाभी ! वह चली आएगी....मुझे बड़ा धक्का लगता है। दिल बैठ जाता है। पर, थोड़ी देर को मुझे दिखा अवश्य देना, बस, एक झलक। ज्यादा मैं बरदाश्त नहीं कर सकता। तुमसे क्या छिपाऊँ भाभी, मैं उससे प्रेम करता हूँ—बड़ा अच्छा लगता है जब मेरे माथे पर हाथ रख के पूँछती है—जी कैसा है ? मैं उससे क्या कहूँ, जी करता है बराबर मेरे पास बैठी रहे। बड़ी भली लगती है उसकी भोली प्रश्न भरी बड़ी-बड़ी आँखें, उसके कोमल, मीठे बोल पर उसके गरम-गरम आँसू ! बन्द कर दो दरवाजा, उठो, जल्दी करो। उसके आँसू मेरे हृदय पर हथोड़े-सी चोट करते हैं। वह इतनी चुप-चुप, अनमनी-सी क्यों रहती है भाभी ? जरा-सी देर में उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में आँसू भर जाते हैं.....

...जरा पानी ! गला सूख रहा है। खिड़की खोल दो। चाँदनी दरारों से झाँक रही है। उसे अन्दर बुला लो....

हाँ, देखो ! चन्द्रमा कैसा हँस रहा है। कैसी शीतल है चाँदनी, दूध जैसी निर्मल, स्वच्छ। अरे ! वह काला बादल का टुकड़ा। मना कर दो भाभी ! थोड़ी देर थम जाये। मुझे चाँद बड़ा भला लग रह है....मेरा 'ब्रश'...'कलर-बाक्स'...'कैनवस'.....

....थक गया...

डाक्टर कहते थे....

.....आइस-कैप...यूडीकलोन....थर्मामीटर....टेम्परेचर-चार्ट....ओफ़ ! मेरे सिर में बड़ा दर्द है....ज़रा अपना हाथ फेर दो भाभी, बस ठीक हो जायेगा—मुझे दवा मत पिलाओ...बस, मेरे पास बैठी रहो...मैं अच्छा हो जाऊँगा....

...माली फूल लेकर आया था, कहता था छोटे बाबू जल्दी अच्छे हो जाओ, बागीचा आपके बिना सूना लगता है....फिर रो दिया। भाभी, उसे मना कर दो रोया न करे... मुझे आँसुओं से डर लगता है। मन्ना कहती थी, भइया आज की आँधी में तुम्हारा आम का पेड़ गिर गया...कैसा प्यारा पेड़ था। अभी तो बौर आये थे। माली कहता था अब की खूब फूलेगा। उसका एक बौर मँगा दो, भाभी। मुझे जान से प्यारा था वह पेड़। तुम तो जानती हो...और हाँ। गुलाब कलम करवा देना...खूब अच्छे फूल आयेंगे... तुम्हें गुलाब कितने प्यारे हैं भाभी।

कहती हो, सो जाओ...आज तो जी भर के बोलने दो। फिर पता नहीं...कुत्ता कहाँ है....कई दिनों से दिखाई नहीं देता...बोलती क्यों नहीं। उसे एक बार मेरा हाथ चाट लेने दो....मेरे ऊपर प्यार से भूक लेने दो। ले आओ, भाभी, एक बार....

...मुझे मौत से डर नहीं लगता, भाभी...जिन्दगी से ऊब गया हूँ...हौसले बुझ चुके हैं...कोई हवस...अगर मर जाता...

अरे ! अरे !! रोने लगीं। अच्छा लो चुप हो जाता हूँ... नहीं बोलूँगा....बस !!....

....वह गीत गा दो, भाभी! 'रुक न सको' सो जा'। कितना दर्द है तुम्हारे गले में...मेरा 'वायलिन' उठा दो.... ज़रा एक बार बजा तो लूँ....वायलिन....सितार....बाँसुरी.... सब मेरे पास रख दो...बड़ी कमज़ोरी लग रही है....सोये हुए तारों को कैसे झनझनाऊँ।

मेरे और पास आ जाओ, भाभी।....बदन टूट रहा है। अन्दर जैसे कोई कुछ खींच-सा रहा हो। सिर पर हाथ रख दो..मुझे नींद आ रही है...अरे, ज़रा एक घूँट...गला सूख रहा है। बड़ी प्यास!....ज़रा 'लाइट' तेज़ कर दो....कमरे में अँधेरा क्यों बढ़ रहा है..उठो, जल्दी करो....बड़ा अँधेरा हो रहा है....एक 'बल्ब' और जला दो..चाँद क्या छिप गया... वह बादल का टुकड़ा...मुझे चाँद क्यों दिखाई देता—क्या खिड़की बन्द कर दी....हवा नहीं आती...दम घुट रहा है.... पंखा तेज़ कर दो....बड़ी गर्मी लग रही है....आइस-कैप हटा दो....सांस लेने में तकलीफ़...और पास आ जाओ। मेरा बदन बड़ा हल्का हो रहा...अरे ज़ोर-ज़ोर से सब क्यों रो रहे हैं....तुम तो समझदार हो भाभी....आँसू पोंछ लो...मैं तो अच्छा हो रहा हूँ...डाक्टर कहते थे...।

अरे! बड़ा अँधेरा....और बत्ती जला दो....तुम्हारा हाथ....कहाँ हो भाभी। दिखाई नहीं देती....थोड़ा तो और बैठतीं। मेरा वायलिन, किताबें....कैनवस....कुत्ता....गाना.... 'रुक न सको...रजनी से कह दो मेरे पास एक बार आ जाये....मैं उसे देखूँगा, जी भरके देखूँगा।....रूठ गई क्या.... पानी....गला सूख रहा है....भाभी! मेरे पास आओ.... रजनी...बड़ा...अँधेरा है....ओफ़....पानी...भाभी ...।

मौन-निमंत्रण

मेघाच्छन्न आकाश में जाल से लदे बादलों के टुकड़े इधर-उधर दौड़ने में व्यस्त थे। इस आडंबर से घिरा चन्द्रमा, जब कभी, बादलों की ओट से, अपने नीचे की जनशून्य और भयभीत सी पृथ्वी को झाँककर देख लेता था। ऊपर तारकवलियाँ काले बादलों की श्यामलता में लुप्त हो गई थीं। सारे वातावरण में एक विचित्र निस्तब्धता और डरावनापन-सा था। डरा हुआ सा, चन्द्रमा, इसी शून्य अन्धकारमय आकाश और डरी हुई-सी निर्जन पृथ्वी को जब कभी, चोरी से झाँककर देख लिया करता था।

ऐसे में एक पथिक घर लौट रहा था। उसका मुख मण्डल चिन्ताग्रस्त और चाल में अनमनापन था। हृदय में विचारों का द्वन्द-सा हो रहा था.....।

...किसके पास चल रहे हो....घर है तो क्या, वहाँ तुम्हारा अपना तो कोई नहीं है....पिता, माता, स्त्री, सन्तान...ओफ़!

इतने में, मानो शोक के बोझ को अधिक न सह सकने के कारण आकाश रो पड़ा। पथिक का हृदय भी विचारों के कारुणिक द्वन्द से भर गया था। पलकों का बाँध उमड़ती हुई वेदना को न रोक सका। एक वृक्ष के नीचे, शिलाखंड पर बैठा वह फिर विचारों में डूब गया.....पिता होते तो आज उनके हृदय की क्या दशा होती....अभिमान और हर्ष

मे उनका वक्षस्थल दूना हो जाता....उनका पुत्र परदेश से लौट रहा था·····कितने दिनों बाद ! और माता····· ?

उसने हाथ से आँसुओं को पोंछ लिया। वर्षा का वेग काफी बढ़ता जा रहा था।

....माता ! आनन्दातिरेक से कितनी विह्वल हो उठी होती....दौड़कर, हृदय से लगा लेती, गोद में छिपा लेती.... और फिर, बार-बार, गीले नयनों और रुँधी हुई आवाज में पूँछती ...कहाँ चला गया था. मेरा लाल ? देख तेरी राह देखते-देखते मेरी क्या दशा हो गई है ..अब तुझे कभी न जाने दूँगी... कभी न आँखों से ओझल होने दूँगी...देख तेरे लिए क्या-क्या बनाकर रक्खा है ..और अपने स्नेहमय हाथों से मुझे खिलाते हुए उसके आनन्द की सीमा न रहती .....

और ; स्त्री . कहीं ओट में खड़ी जी भरकर मुझे देखती रहती... आँसुओं के कण उसके देखने में बाधा डालते, पर वह मानती कैसे, उनकी अवहेलना करके देखती ..और सामना होने पर फूट पड़ती .. लज्जा का आवरण दूर फेंक देती ... कहाँ चले गए थे मेरे साजन ? इतने दिनों तक सुध भी न ली....अब तो न जाओगे ?...और वह, सकुचाती हुई, अपने आनन्द का वेग न रोक पाती... मेरे वक्षस्थल पर अपना मुख मण्डल टिकाकर मेरे हृदय में सिमिट जाना चाहती। मैं दोनों हाथों से उसके अरुणाभ सकुचाये हुये आनन को ऊपर उठाकर, उसकी मूक, प्रश्न भरी आँखों में आँखें डाल... उसके अधरों.....

सहसा उसकी विचारधारा टूट गई। वर्षा थमने लगी थी। पथिक अनमना-सा उठ बैठा और चलने लगा।

सारी रात वह चलता रहा, विचारों में डूबा, करुणा से भरा। मेघ अब तब बरसते रहे और वह भी आँसू पोंछता रहा।

अरुणोदय हो रहा था। शोक भार से हलके होकर मेघ, स्वच्छ, निर्मल, श्वेत परिधानों में इधर-उधर थिरक रहे थे। सूर्य की सुनहली आभा क्षितिज पर छिटकने लगी थी। दूर पर पथिक का गाँव दिखाई देने लगा। उसका हृदय बैठने लगा .....।

....अरे! आखिर मैं क्यों जा रहा हूँ...कहाँ जा रहा हूँ....वहाँ मेरा कौन बैठा है। अकेला....मैं बिलकुल अकेला हूँ .....।

वह गाँव के बिलकुल पास आ गया। कुत्ते अजनबी के ऊपर भूँकने लगे। पथिक का मकान सामने दिखाई देने लगा। उसका हृदय भर आया..... ।

किसे बुलाऊँगा...अपना कौन है...मेरा मकान.... आह!...पर स्वागत कौन करेगा..... ।

उसने धड़कते हुए हृदय से कुंडी खटखटाई। रूँधे हुए कंठ से पुकारा, रामा! ओ रामा!! किवाड़ा खोल देख मैं आया हूँ.....।

और नौकर दौड़ पड़ा, अरे! सरकार, मेरे मालिक!! आ गए। उसकी आवाज़ भारी हो गई। आँखें डबडबा आईं।

पिंजड़े में बन्द तोता छटपटा पड़ा...बाबू....बाबू.... बाबू....उसने रट लगा दी। पथिक ने उसे हाथों में लिया। गालों से लगाया।

'बुकी' ने सारा घर सर पर उठा लिया। पथिक पर प्यार से

भूँकता। उसके पैर चाटता, उन पर लोट-लोट जाता। हर्षातिरेक से दौड़-दौड़कर जैसे सारे घर को सूचना दे दी। गोद में चढ़कर सारे मुँह, हाथों को चाट लिया।

बगल के छप्पर में गाय रंभाने लगी। पथिक दौड़कर उसके पास गया। उसकी बड़ी-बड़ी आँखों में पानी था। पथिक उसकी गरदन से लिपट गया। वह रंभाने लगी; जैसे कह रही हो, "कहाँ चले गए थे मेरे मालिक?"

आँगन में लगा मौलश्री का झाड़ हिल उठा। कुछ फूल पथिक के ऊपर गिरे। उसने ऊपर देखा। झाड़ जैसे आनन्द से झूम रहा हो।

पथिक आनन्द से पागल हो उठा। उसकी विचारधारा बिलकुल बदल गई।